August 2022

Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अगस्त २०२२

श्रीअरविन्द आश्रम

पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अगस्त २०२२

विषय-सूची

'पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति'

प्रकाश का मन	श्रीअरविन्द	३
पृथ्वी सिंह के साथ पत्राचार	श्रीमाँ	५
श्रीअरविन्द के जीवन का रेखाचित्र	श्रीअरविन्द	१३
परिभाषाएँ	श्रीमाँ	१७
शरीर का रूपान्तर	श्रीअरविन्द/श्रीमाँ	१९
२३ मई १९५६ के वार्तालाप का एक अंश	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८	२१
श्रीअरविन्द के उत्तर (८५)		२६

'पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति'

अपने अन्तिम गद्य-लेखनों में श्रीअरविन्द ने *Bulletin of Physical Education*—शारीरिक शिक्षण की पत्रिका—(जिसका बाद में नाम बदल कर *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*—श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र-पत्रिका—कर दिया गया था) के लिए आठ लेख लिखे थे। यह त्रैमासिक पत्रिका फ़रवरी १९४९ में शुरू हुई थी। ये लेख १९४९ तथा १९५० के अंकों में प्रकाशित हुए थे। १९५० में श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के साथ यह कड़ी टूट गयी। बाद में १९५२ में *पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति* के नाम से यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई।

प्रकाश का मन

(श्रीअरविन्द के लेख—धरती पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति के आधार पर)

हमारे लिए नयी मानवता का अर्थ है, ऐसी मानसिक सत्ताओं के एक प्रारूप या जाति का आविर्भाव और विकास जिसकी मानसिकता का सिद्धान्त अब ऐसा मन नहीं होगा जो अज्ञान में पैठ कर ज्ञान की खोज करता हो, भले उसका ज्ञान अज्ञान से बँधा हुआ क्यों न हो, फिर भी वह जाति प्रकाश की खोजी होगी, भले स्वाभाविक रूप से वह उसे प्राप्त न हो, पर इतना पर्याप्त है कि वह प्रकाश की ओर खुली हो, भले प्रकाश में निवास न करती हो, भले अभी तक वह पूर्णताप्राप्त यन्त्र न हो, सत्य के प्रति सचेतन न हो, अज्ञान से निकली हो, लेकिन वह हो प्रकाश की अनुसन्धाता। वह जाति उससे लैस होगी जिसे 'प्रकाश' का मन कहा जा सकता है, ऐसा मन जो सत्य में निवास करने में समर्थ हो, सत्य-चेतना बने रहने में सक्षम हो और जो अप्रत्यक्ष ज्ञान की जगह प्रत्यक्ष ज्ञान को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो। उसकी मानसिकता फिर अज्ञान का यन्त्र न रह कर 'प्रकाश' का यन्त्र बन जायेगी। अपने शीर्षस्थ में वह मानवता अतिमानस में प्रवेश करने में सक्षम हो सकेगी और उस नयी जाति से ऐसी अतिमानसिक सत्ताओं को प्रकट करेगी जो पार्थिव प्रकृति में क्रम-विकास के अग्रदूत होंगी। 'प्रकाश' के मन की उच्चतम अभिव्यक्तियाँ भी अतिमानस के बस साधन ही होंगी, उसका मात्र एक अंश या उसका एक प्रक्षेपण होंगी। यह मानवता से परे, अतिमानसिक सिद्धान्त-तले अतिमानवता में पदार्पण होगा। सबसे बढ़ कर यह होगा कि मानव पर अतिमानव के अधिकार द्वारा मनुष्य अपनी वर्तमान सामान्य चिन्तन-पद्धति, भावना इत्यादि से ऊपर उठ जायेगा और अपने-आप का अतिक्रमण कर मन की उन उच्चतम शक्तियों तक पहुँच जायेगा जो मन को अतिमन से जोड़ती हैं और तब वह अधिक उज्ज्वल और अधिक महान् सिद्धान्त को पा सकेगा। क्रमविकास में यह

पहल पिछली पहलों की तरह स्वाभाविक रूप में, एक ही कूद में सम्पन्न नहीं हो सकेगी, लेकिन प्रारम्भ से ही यह निश्चित रूप से दिखेगा कि यह रूपान्तर होकर रहेगा; ऊपर से अतिमानस का दबाव इतना होगा कि अन्ततोगत्वा 'प्रकाश' का मन इसे अवश्य ही सम्भव बना देगा। नये 'प्रकाश' की प्रथम झलकें अपने अन्दर उसकी उच्चतम लपटों की चिनगारी लिये रहेंगी; पहली झलकों में भी वे उच्चतम शक्तियाँ दृष्टिगोचर होंगी; क्योंकि प्रत्येक नूतन आविर्भाव की यही सतत कहानी होती है : नये आविर्भाव की उच्चतम पूर्णता का सिद्धान्त उस अन्तर्वलय में निहित होता है जो उसके पहले था और उसमें छिपे उस सिद्धान्त को क्रमविकास की गति आवश्यक रूप से नित्य-निरन्तर विकसित करती रहती है।

क्रमविकास की कहानी के सम्पूर्ण काल में हमें दो ऐसे पूरक तत्त्व देखने को मिलते हैं जो उसकी क्रिया और आवश्यक सम्पूर्णता को अपने अन्दर लिये रहते हैं, यानी, प्रकृति के अन्तर्वलय में आने वाली नयी सत्ता की गुप्त शक्ति तथा सिद्धान्त मौजूद रहते हैं, लेकिन होते हैं उस परदे के पीछे जिसे प्रकृति उस पर तब तक डाले रखती है जब तक कि बाहर सब कुछ पूरे-पक्के तौर पर तैयार न हो जाये। जैसे-जैसे वह विकसनकारी सिद्धान्त ऊपर उठता है दो चीज़ें होती हैं—एक तो वह विकास क्रमशः उभरता है और धीरे-धीरे करके, अधिकाधिक अपनी शक्ति, अपनी सम्भावनाओं, अपने अन्दर स्थित देवत्व की शक्ति को प्रकट करता है और दूसरी यह कि हर तरह के प्रारूपों और आकारों का सतत प्रकटन होता रहता है...। क्रमविकासात्मक प्रक्रिया में जड़-भौतिक के व्यवस्थित रूप और क्रियाएँ प्रकट होती हैं, जीवन के विभिन्न रूप और जीवन्त सत्ताएँ उभरती हैं, तब मन की विविधता तथा आध्यात्मिक सिद्धान्त की महानताएँ तथा ऐसी आध्यात्मिक सत्ताएँ सम्मुख आयेंगी जो विकास की उच्चतम ऊँचाइयों की ओर चढ़ती हैं और तब दृष्टिगोचर होगी वह बृहत्तम अभिव्यक्ति जो समय के साथ-साथ सर्व-प्रकटनकारी आत्मा बन जायेगी। यही है क्रमविकास का सच्चा अर्थ और प्रेरणा : रूपों तथा आकारों की बहुलता तथा विविधता केवल उसके साधन तथा उसकी प्रक्रिया-मात्र हैं। हर एक स्तर आने वाले स्तरों की सम्भावना तथा निश्चितता को अपने अन्दर थामे रखता है; तब प्रकट होते हैं अधिकाधिक विकसित रूप और शक्ति-केन्द्र ताकि नूतन आविर्भूत रूप अधिकाधिक पूर्ण बनते जायें, उनके परे महान् शक्तियों का जन्म हो और चेतना का प्रत्येक आविर्भाव और सचेतन सत्ताएँ वर्तमान सत्ताओं के एकदम परे जाने में समर्थ हो सकें और अन्त में उस उच्चतम देवत्व तक पहुँच जायें जिन तक पहुँचने में 'प्रकृति' जी-तोड़ मेहनत कर रही है और वह पहुँचेगी अवश्य, यह भी उसके भाग्य में लिखा है। जड़-भौतिक ने अपने रूपों को तब तक व्यवस्थित किया जब तक वह स्पन्दनशील जीवों तक नहीं पहुँच गया; तब जीवन वनस्पति की अवचेतना से सचेतन पशु के रूपों तक उठ आया और वहाँ से चिन्तनशील मानव-जीवन में प्रकट हो गया। जीवन पर आधारित मन ने बुद्धि का विकास किया, ज्ञान और अज्ञान को, सत्य और भ्रान्ति को जाना जब तक कि जीवन आध्यात्मिक दर्शन तथा प्रबोधन तक न पहुँच गया और अब मानों काँच के पार अतिमानस तथा सत्य-चेतना के अस्तित्व की धुँधली सम्भावना को देखा

जा सकता है। इस अपरिहार्य आरोहण में 'प्रकाश' का मन एक श्रेणी है, एक अपरिहार्य स्तर है। विकसनशील सिद्धान्त के रूप में यह श्रेणी मानव-आरोहण में एक मंच का काम करेगी और इसी से नयी मानव सत्ता के प्रारूप का अभ्युदय होगा; इस विकास को ऊपर आरोहण करती हुई मानवता की शक्तियों और प्रारूपों को भी अपने साथ-साथ लिये चलना होगा, तब वह मानवता अधिकाधिक आध्यात्मिकता, 'प्रकाश' की सामर्थ्य की ओर मुड़ेगी, यानी, देवत्वपूर्ण मानवता तथा भागवत जीवन की और चढ़ेगी।

'प्रकाश' के मन के जन्म पर आज जीवन जैसा है उसमें दो अवस्थाएँ होंगी—पहली में हम देखेंगे कि 'प्रकाश' का मन अज्ञान से निकल कर अपने-आपको समेट रहा है, अपने तत्त्वों को इकट्ठा कर, नये रूपों और प्रारूपों को निर्मित कर रहा है—भले वे रूप आरम्भ में चाहे जितने अपूर्ण क्यों न हों, लेकिन वह 'मन' उन्हें तब तक पूर्णता की ओर धकेलता जायेगा जब तक वे 'अज्ञान' की देहली पार कर 'प्रकाश' में नहीं निकल आयेंगे। दूसरी अवस्था में हम देखेंगे कि वह मन स्वयं को महानतर नैसर्गिक प्रकाश में विकसित कर रहा है, उच्चतर रूप और आकार ले रहा है जब तक कि वह अतिमानस से नहीं जुड़ जाता और उसके अधीनस्थ अंश के रूप में नहीं जीता या उसका प्रतिनिधि नहीं बन जाता।... इस तरह, पहले भले अज्ञान में क्यों न हो, लेकिन यह सम्भावना है कि मानव भागवत जीवन-विधि अपना सकेगा, तब इस 'प्रकाश' की प्रदीप्ति द्वारा एक महानतर उपलब्धि प्राप्त करेगा जिसे अध्यात्म-मानसिकता का नाम दिया जा सकता है, यानी अतिमानस तक पहुँचने से पहले मानव-जीवन रूपान्तरित हो जायेगा, यहाँ तक कि पार्थिव चेतना तथा रूपान्तरित मानवता में एक ज्योतित भागवत जीवन का अभ्युदय हो जायेगा।

अगस्त १९५०

CWSA खण्ड १३, पृ. ५८५-५८७

श्रीअरविन्द

पृथ्वी सिंह के साथ पत्राचार

बंगाल में ३ जून १८९८ को जन्मे पृथ्वी सिंह कई वर्षों तक गृहस्थ शिष्य थे, बाद में २७ मई १९३८ में, ३९ वर्ष की अवस्था में ये आश्रम में आकर बस गये। बाद के कुछ वर्षों में इनके सभी सात बच्चे आश्रम में रहने के लिए आ गये। सबसे पहले पृथ्वी सिंह ने आश्रम के पुस्तकालय में काम करना शुरू किया। उसके बाद ४० के दशक में, श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के ग्रन्थों के विक्रय को आसान बनाने के लिए इन्होंने आश्रम के प्रकाशन-विभाग का कार्य आरम्भ किया और क़रीब ४० सालों तक वे इस विभाग के प्रमुख रहे। इस काल में इन्होंने प्रतिलेखन, प्रूफ़ देखना, तालिकाएँ बनाना और अनुवाद का काम भी ख़ूब किया। ये आश्रम में ३७ साल रहे और ७७ वर्ष की उम्र में १३ अप्रैल १९७६ को इन्होंने शरीर छोड़ दिया।

श्रीमाँ के साथ पृथ्वी सिंह का पत्राचार सन् १९३८ से १९६७ के बीच चला।

(आश्रम में आने से पहले १९३८ की मई में शिष्य को बंगाल में अपना सारा काम समेटना था। कुछ उधार चुकता करने के लिए इन्होंने अपनी स्वर्गीय पत्नी का हीरे का एक हार बेचने का फ़ैसला किया। फिर इनके मन में इसे श्रीमाँ को अर्पण करने का विचार उठा। कोई फ़ैसला न ले सकने के कारण शिष्य ने परामर्श के लिए माँ को लिखा।)

पृथ्वी सिंह,

हार के बारे में अभी-अभी मुझे तुम्हारी चिट्ठी मिली। 'अ' ने अपने दादाजी को इस हार की बिक्री के बारे में यह कहते हुए लिखा कि वे इसे 'ल' के लिए ख़रीद लें। वृद्ध सज्जन ने जवाब में लिखा कि 'ल' तो कभी आश्रम के बाहर क़दम ही नहीं रखती, तब वह उस हार का क्या करेगी, हाँ, अगर बस उसको सराहने के लिए वह रखना चाहे तो और बात है। तो तुम देख सकते हो कि इस मामले में मेरा नाम कभी नहीं आया। मैंने अपने लिए लेने के लिए उन्हें कभी अनुमति नहीं दी होती।

अगर तुम्हारे ऊपर उधार न होता या अगर मैं तुम्हारे उधार चुकता करने की अवस्था में होती तो ख़ुशी-ख़ुशी वह हार स्वीकार कर लेती, लेकिन इस अवस्था में हार बेचने का तुम्हारा प्रारम्भिक विचार ही मुझे अधिक युक्तियुक्त लग रहा है।

आशा है कि तुम और बच्चे सभी सकुशल होंगे।

हमारा प्रेम और आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

पुनश्च : तुम्हारा फ़र्नीचर सही-सलामत पहुँच गया और तुम्हारे कमरे में रखवा दिया गया है।
२४ जनवरी १९३८

पृथ्वी सिंह,

मैंने तुम्हें हार बेचने का सुझाव इसलिए दिया था क्योंकि परिस्थितियों को देखते हुए, करने-लायक़ वही मुझे सबसे अधिक युक्तियुक्त चीज़ लगी। लेकिन चूँकि तुम अपने आन्तरिक भाव के कारण हार मुझे अर्पित करने के लिए प्रेरित हो रहे हो, मेरे लिए तुम्हें मना करना सम्भव नहीं है। तुम्हारी चिट्ठी में निश्चय ही तुम्हारे अहं की कोई झलक नहीं दीखती, बल्कि उसमें भरी हुई है बहुत ही सुन्दर, सुकोमल, चैत्य क्रिया। अतः, मैं तुमसे वादा करती हूँ कि जब तुम मेरे लिए उपहार लाओगे तो न मैं तुम्हें डाटूँगी, न डपटूँगी बल्कि उसी भावना के साथ उसे स्वीकार करूँगी जिस कोमल भावना के साथ तुम मुझे भेंट दोगे।

तुम्हें और तुम्हारे बच्चों को प्रेम और आशीर्वाद।
२ फ़रवरी १९३८

पृथ्वी सिंह,

हाँ, निश्चित रूप से मैं मानवीय माँ के तरीक़े बहुत कम जानती हूँ, क्योंकि अपने किसी बच्चे को कुछ दे-दिवा कर उससे पिण्ड छुड़ाने का विचार मेरे अन्दर सपने में भी कभी नहीं उठा!...

बहरहाल, मेरे मन में ऐसा कोई विचार नहीं था और मैंने तुम्हारे कमरे में पंखा इसलिए लगवाया कि मुझे पता था कि तुम्हें गरमी लग रही है—चूँकि तुम्हें ऐसा लग रहा है कि मैं पीछे हट गयी हूँ, लेकिन यह तुम्हारा एकदम से ग़लत विश्वास है—मैं तुम्हारे साथ हूँ जैसा कि मैं हमेशा से थी और मैं तुम्हारी आन्तरिक और बाहरी अवस्था को अच्छी तरह जानती हूँ।

अगर तुम बाहरी आभासों से मन्त्रमुग्ध न होओ तो तुम निश्चित रूप से मेरी उपस्थिति को अपने अन्दर और चारों तरफ़ हमेशा-हमेशा जीवन्त अनुभव करोगे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

पुनश्च : यह पंखा तुम्हारे कमरे को ठण्डा करने के लिए है—मैं आशा करती हूँ कि तुम इसका उपयोग इसी उद्देश्य के लिए करोगे।

२७ अप्रैल १९३९

मेरे प्यारे बच्चे,

कई दिनों से मैं यह अनुभव कर रही थी कि तुम्हें लिखूँ कि तुम्हारे स्वास्थ्य के बारे में 'न' से बातचीत करना बेहतर होगा। मैं यह कहने से इसलिए झिझक रही थी क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि तुम चिकित्सकों और दवाइयों से कतराते हो, लेकिन बार-बार कमज़ोर पड़ जाने की तुम्हारे शरीर की इस बुरी आदत से निपटना बहुत ज़रूरी है। ऐसा नहीं चल सकता। तुमने मुझे ख़ुद लिख कर बड़ा अच्छा किया, क्योंकि इसने मेरी हिचक को दूर कर दिया, और अब मैं बहुत ख़ुश होऊँगी अगर तुम अपने शरीर की हालत के बारे में 'न' से कुछ परामर्श ले लोगे। कभी-कभी बहुत ही ज़रा-सा धक्का ग्रहणशीलता को दोबारा जगा देता है।

मेरा प्रेम, सहायता और आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

२७ जून १९३९

मेरे प्यारे बच्चे,

समस्या को देखने के तुम्हारे तरीक़े से मैं *पूरी तरह सहमत हूँ* और तुम्हारी इस प्रार्थना को स्वीकार करती हूँ कि तुम साल-भर के लिए यह कोशिश करना चाहते हो कि चिकित्सकीय वातावरण के बिना तुम इस कठिनाई से बाहर निकल आओ—और मैं इस बात में तुमसे पूरी तरह सहमत हूँ कि 'शक्ति' को कार्य करने देने के लिए यह वातावरण सहायता की बजाय बाधक अधिक होता है। लेकिन तुम्हें हमारे प्रयास और एकाग्रता के परिणामों के बारे में ज़्यादा

जल्दी-जल्दी बताना होगा। हफ़्ते में दो बार बताना मुझे बहुत ज़्यादा नहीं लगता—फ़िक्र न करो, जब ज़रूरी होगा तभी मैं उत्तर दूँगी।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

पुनश्च : क्या तुम कुछ ऐसा खाना चाहते हो जो तुम्हारे लिए लाभदायक हो? ज़्यादा दूध? या ज़्यादा फल? मैं तुमसे एकदम स्पष्ट जवाब चाहती हूँ।

२९ जून १९३९

मेरे प्यारे बच्चे,

अपने स्वास्थ्य के बारे में तुम्हारी कठिनाई का वर्णन एकदम सही है। इसी तरीक़े से अवचेतना 'शक्ति' के अवतरण में बाधा बन कर खड़ी हो जाती है। लेकिन बहुत ही धीरजभरे और दृढ़ाग्रही प्रयास से अन्त में उस पर विजय पा ही ली जाती है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२४ जुलाई १९३९

मेरे प्यारे बच्चे,

यह बहुत बढ़िया लक्षण है कि तुम अवचेतना में 'शक्ति' के प्रभाव को अनुभव करना शुरू कर रहे हो; यह तुम्हारी सच्ची प्रगति को सूचित करता है।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम पर निगरानी रख रहे हैं।

२१ अगस्त १९३९

मेरे प्यारे बच्चे,

तुम्हारे लिए डबलरोटी की चौथी 'स्लाइस' की मंज़ूरी मैंने दे दी है, लेकिन मुझे लगता है कि तुम्हें अतिरिक्त दूध *बन्द किये बिना* यह लेनी चाहिये क्योंकि मुझे विश्वास है कि दूध तुम्हारे शरीर को मज़बूत बनाने के लिए बहुत लाभकारी है।

तुम 'ब' से कह सकते हो कि अगली गरमी के आने तक वह पंखा ले जा सकता है।

तुम्हारी अनुभूति का वर्णन बहुत सुस्पष्ट नहीं लग रहा (स्पर्श की प्रकृति, कुण्डलिनी कहाँ से उठ कर कहाँ तक चढ़ी)—लेकिन तुम्हारे द्वारा वर्णित प्रकाश का चक्का यह दर्शाता है कि अपने केन्द्रों में तुम 'उपस्थिति' के बारे में सचेतन हो गये हो।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

७ सितम्बर १९३९

मेरे प्यारे बच्चे,

सिक्कों का संग्रह सचमुच बहुत अच्छी तरह व्यवस्थित किया और दर्शाया गया है और

बहुत रुचिकर है। मैं इसके लिए आलमारी का एक विशेष तख़्ता देने की सोच रही हूँ, फिर मैं तुमसे उन डिब्बों को उस तख़्ते पर ठीक तरह से व्यवस्थित करके सजाने के लिए कहूँगी।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

६ जनवरी १९४१

मेरे प्यारे बच्चे,

भौतिक में जीने का, बने रहने का आनन्द भगवान् के प्रति कृतज्ञता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।

मेरा प्रेम तथा आशीर्वाद।

१६ जून १९४१

मेरे प्यारे बच्चे,

भगवान् की अन्तिम विजय निस्सन्देह सुनिश्चित है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

६ अप्रैल १९४२

मेरे प्यारे बच्चे,

कार्य के प्रति तुम्हारा मनोभाव सही है और मैं किसी भी बदलाव का सुझाव नहीं दे रही।

प्रेम के द्वारा किया गया कर्म कर्म है और प्रेम सबसे अधिक शक्तिशाली साधन है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

८ जून १९४२

मेरे प्यारे बच्चे,

मैं समझ सकती हूँ कि यहाँ कुछ लोग जो ऊलजलूल बातें किया करते हैं उनको सुनने के लिए धीरज बनाये रखना प्राय: असम्भव होता है, और उससे नाराज़ होकर बदले में तुमने जो गरम जवाब दे दिया उसके लिए मैं तुम्हें दोषी नहीं ठहरा सकती, और मैं तो यह कहूँगी कि इसने मुझे कतई असुविधा में नहीं डाला।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२० जुलाई १९४२

मैं तुम्हें तुम्हारे ही क़लम से लिखे दो फ़्रेंच वाक्य भेज रही हूँ :

“Seigneur, donne-nous le bonheur véritable, celui qui ne dépend que de toi.”

(प्रभो, हमें सच्चा हर्ष प्रदान कर, वह हर्ष जो केवल तुझ पर निर्भर करता है।)

"Nous avançons sans hâte parce que nous sommes sûrs de l'avenir."

(हम बिना तेज़ी से आगे बढ़ते हैं क्योंकि हम भविष्य के बारे में निश्चित हैं।)

तारीख़ के बिना (१९४२?)

(शिष्य ने पूछा कि उसे चश्मा पहनना चाहिये या नहीं। उसकी चिट्ठी का अन्तिम हिस्सा :)

कृपया मुझे बतलाइये माँ कि आप क्या सोचती हैं। मैं आँखों के लिए डॉ.अग्रवाल की दवाई लेना बन्द कर रहा हूँ। मैं आपकी सहायता को पुकारना अधिक पसन्द करता हूँ, जैसा कि मैं करता रहा हूँ; अगर मैं आपकी 'शक्ति' के प्रति खुल सकूँ तो कोई चमत्कार घटित हो सकता है, साथ ही अगर 'शक्ति' बिना किसी शर्त के कार्य करना चाहे तब भी काम बन सकता है। वरना जो होना है होगा और एक बार आपके आशीर्वाद पा जाने के बाद किसी भी तरह के पछतावे की कोई वजह ही नहीं दीखती। मैंने आपके सामने सारी बात खोल कर रख दी है ताकि आप बिना झिझक के अपना निश्चय दे सकें।

आपके चरणों में गभीर भक्ति और प्रणाम।

मेरे ख़याल से चश्मे से तुम्हें बाहर जाने पर और अपने काम में भी सहायता मिलेगी, तो मैं तुम्हें चश्मों की दो जोड़ी लेने का सुझाव दे रही हूँ—एक धूप का, दूसरा सामान्य; शायद इंग्लैण्ड से मँगवाये जायें तो ज़्यादा सन्तोषजनक होंगे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

(बिना तारीख़ का)

मेरे प्यारे बच्चे,

तुम्हारे पत्र में अभिव्यक्त भावों और साथ ही इतना ख़याल रखने की बात के लिए तुम सचमुच प्रशंसा के पात्र हो, और मैं तुम्हारे इस सुझाव को स्वीकार करती हूँ कि तुम दो हफ़्तों में एक बार मुझे लिखोगे—लेकिन प्रणाम के लिए तुम्हें हर मंगलवार को आना जारी रखना चाहिये, जैसा कि तुम पिछले साल कर रहे थे।

हमेशा मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

४ जनवरी १९४३

मेरे प्यारे बच्चे,

मुझे दु:ख है कि अब भी तुम्हारे अन्दर अवसाद के दौरे उठते हैं। मैं तो आशा कर रही थी कि वे हमेशा के लिए दूर चले गये। तुम जानते हो न कि भले तुम मुझे अनुभव न कर

सको, मैं हमेशा तुम्हारे साथ होती हूँ। अपने अन्दर इस श्रद्धा-विश्वास को बनाये रखो और मेरी उपस्थिति एक जीवन्त तथ्य बन जायेगी।

प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

१ मई १९४४

मेरे प्यारे बच्चे,

तुम्हारी चिट्ठी पढ़ कर मुझे प्रसन्नता हुई। 'क्ष'[१] ने पहले से ही मुझे बड़े उत्साह के साथ नयी व्यवस्था के बारे में और साथ ही उन लोगों के द्वारा पैसे लौटा देने की बात के विषय में बता दिया था। तुम्हारे सारे बच्चे *बहुत ही सभ्य-शिष्ट* हैं और उन सबके यहाँ रहने से मैं बहुत ख़ुश हूँ। सच्ची बात कहूँ तो मुझे यह जोड़ना चाहिये कि मैं उन सबको हृदय से चाहती हूँ और उनके पिता को भी।

निश्चय ही, तुमने जिन किताबों का ज़िक्र किया है उन्हें इंग्लैण्ड से मँगाया जा सकता है।

यह तो स्पष्ट है कि कभी किसी भी वजह से तुम मंगलवार को मेरे पास न आ सको तो तुम्हें अगले दिन शाम को ज़रूर आना है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

३ अगस्त १९४४

मेरे प्यारे बच्चे,

मैं आशा करती हूँ कि "आध्यात्मिक समीपता" और इस तरह की बाक़ी मूर्खता-भरी बातों पर तुम किसी भी तरह का कोई ध्यान नहीं दे रहे हो। इनके पीछे *कोई सच्चाई नहीं* है। ब्योरे में उत्तर देने का समय नहीं है—लेकिन मैं तुमसे इतना ज़रूर कहती हूँ कि बाहरी आभासों को देख कर कभी मूल्यांकन मत करो और लोग जो कहते हैं उस पर तो और भी कम विश्वास करो...

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

६ नवम्बर १९४४

मेरे प्यारे बच्चे,

मैंने इस बात पर ग़ौर तक नहीं किया कि तुमने मुझे अटका दिया था। मैं हमेशा उस स्थान पर दो-एक मिनट ज़रूर रुकती हूँ और तुम पर और जो-जो वहाँ हों उन पर एकाग्र होती हूँ। इसलिए माफ़ करने की कोई बात ही नहीं है और मैं तुम्हें अपना प्रेम और आशीर्वाद भेज रही हूँ। १९ अप्रैल १९४५

[१] शिष्य की एक सन्तान।

मेरे प्यारे बच्चे,

यह मुझे एकदम से स्वाभाविक बात लगती है कि तुम्हारे बच्चे अपना-अपना स्थान और अपना कुछ एकान्त चाहते हैं, और भौतिक रूप से जैसे ही मेरे लिए यह करना सम्भव होगा मैं उनकी अभिलाषा पूरी कर दूँगी। मैं केवल एक बात तुमसे कहना चाहूँगी कि अगर बाक़ी आश्रमवासी भी वैसे ही हों जैसे तुम्हारे बच्चे हैं तो मेरा काम अनन्तगुना आसान हो जायेगा; ये उनमें से हैं जो मुझे कम-से-कम परेशान करते हैं।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२३ जुलाई १९४५

मेरी मधुर माँ,

'स' ने 'त्र' और 'ज्ञ' [१] के प्रगति-पत्र मेरे हस्ताक्षर के लिए भेजे हैं। मैं तो समझता था कि अभिभावक बने रहने का यह झंझट मेरे यहाँ आने के बाद समाप्त हो गया होगा, लेकिन मुझसे कहा गया कि विशेष रूप से आप इसे जारी रखना चाहती हैं और इस सारी चीज़ का आरम्भ आपने ही किया। अगर ऐसी बात है तो निश्चित रूप से मैं 'रिपोर्ट' पर हस्ताक्षर करूँगा। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि विद्यालय कुछ ज़्यादा ही आधिकारिक बनता जा रहा है जब कि सच्चे अध्ययन की प्रक्रिया अभी तक बहुत तरल अवस्था में ही है। छात्रों के श्रेणीकरण के लिए अब भी बहुत कुछ करना बाक़ी है, लेकिन शायद मैं वर्जित क्षेत्रों में अपने पैर फैला रहा हूँ। बहरहाल, यह मासिक रिपोर्ट आपके ऊपर व्यर्थ के काम का बहुत सारा भार डाल देगी, और इस रिपोर्ट को आसानी से त्रैमासिक बनाया जा सकता है।

मुझे यह क़दम इसलिए उठाना पड़ा क्योंकि बच्चे बहुत लापरवाह, आलसी और अनुशासनहीन होते जा रहे थे, न वे विद्यालय का काम कर रहे थे, न अध्यापकों की बात पर कान ही दे रहे थे। बहुत दु:ख की बात है, क्योंकि मैं इन सभी साधारण मानकों को अपने विद्यालय में कतई नहीं लाना चाहती हूँ।

पुनश्च : मैं स्वीकार करता हूँ कि एटम बम[२] के फेंके जाने पर मैं बहुत उदास हो गया हूँ। यह बहुत हृदयहीन था। मैं आपसे स्पष्ट रूप से जानना चाहूँगा माँ कि मेरी यह भावना सही थी या ग़लत—क्योंकि यह मित्र-राष्ट्रों की क्रिया के प्रति खेद अनुभव करने वाली बात थी, जो लोग जर्मनों के बर्बर आक्रमण के विरुद्ध इतनी बहादुरी

१. शिष्य की दो सन्तानें

२. ६ अगस्त १९४५ को हीरोशिमा पर एक एटम बम फेंका गया; तीन बाद नागासाकी पर एक और फेंका गया।

के साथ खड़े रहे, जो भगवान् की तरफ़ बने रहे—हालाँकि सचेतन रूप से न हों। और साथ ही जापानियों की बर्बरता और घोर विश्वासघात के बावजूद मेरे अन्दर उनके लिए एक तरह का सहानुभूति-मिश्रित भाव है, वैसे मैं यह भी जानता हूँ कि उनके इस विश्वासघात के परिणाम-स्वरूप ही प्रतिशोध ने उन्हें तपाक् से आ घेरा।

एटम बम अपने-आपमें सबसे विलक्षण उपलब्धि और मनुष्य का जड़-भौतिक 'प्रकृति' पर बढ़ती हुई शक्ति का चिह्न है। लेकिन खेद इस बात का है कि यह भौतिक प्रगति और प्रभुत्व उस आध्यात्मिक प्रगति और प्रभुत्व का परिणाम नहीं है जिस आध्यात्मिकता में वह शक्ति है जो इन खोजों द्वारा उत्पन्न संकट के विरुद्ध खड़ी हो सकती और उनको निष्फल बना सकती है। हमें प्रगति करना बन्द नहीं करना है, न हम उसे बन्द कर ही पायेंगे, लेकिन हमें अन्दर और बाहर के साथ सामञ्जस्य बनाये रख कर इसे पाना होगा।

२८ अगस्त १९४५ **श्रीमाँ**

श्रीअरविन्द के जीवन का रेखाचित्र

श्रीअरविन्द का जन्म १५ अगस्त १८७२ में कलकत्ते में हुआ था। १८७९, सात साल की उम्र में उन्हें अध्ययन के लिए उनके दो बड़े भाइयों के साथ इंग्लैण्ड ले जाया गया। वे वहाँ चौदह वर्ष रहे। पहले पहल मैनचेस्टर में एक अंग्रेज़ परिवार के साथ रहते हुए वे लन्दन के सेण्ट पॉल विद्यालय में भरती हुए (१८८४) और १८९० में वे वहाँ से उच्च वज़ीफ़े के साथ केम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में दाख़िल हुए, जहाँ उन्होंने दो वर्षों तक अध्ययन किया। १८९० ही में वे 'भारतीय सिविल सर्विस' की खुली प्रतियोगिता में भी उत्तीर्ण हुए, लेकिन दो साल के परिवीक्षण-काल के अन्त में घुड़सवारी की परीक्षा में वे नहीं गये और इस तरह सेवा के लिए अयोग्य ठहराये गये। उस समय बड़ौदा के राजा गायकवाड़ लन्दन में ही थे। अरविन्द उनसे मिले, गायकवाड़ ने अपने साथ कार्य करने के लिए उनसे बातचीत की और जनवरी १८९३ में वे इंग्लैण्ड छोड़ कर भारत आ गये।

श्रीअरविन्द ने १८९३ से १९०६ तक—१३ साल—गायकवाड़ के यहाँ कार्य किया—पहले वहाँ के रेवेन्यू-विभाग (राजस्व) और महाराजा के सचिव के रूप में, उसके बाद वे अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर और अन्त में, बड़ौदा कॉलेज के वाइस-प्रिंसिपल बने। यह उनके आत्म-अध्ययन का काल था, और काल था उनकी साहित्यिक गतिविधियों का—बाद में पॉण्डिचेरी में प्रकाशित काव्य के अधिकांश भाग का सृजन बड़ौदा में ही हुआ था; साथ ही अपने भावी कार्य की तैयारी भी उन्होंने वहीं की थी। इंग्लैण्ड में उनके पिता के स्पष्ट और कठोर निर्देशों के अनुसार उन्हें पूरी तरह से पाश्चात्य संस्कृति और शिक्षा दी गयी थी, भारतीय तथा पूर्वीय संस्कृति का रत्ती-भर

उनकी थाली में कभी नहीं परोसा गया।[१] बड़ौदा में रह कर उन्होंने इसकी क्षतिपूर्ति की, संस्कृत के साथ-साथ कई आधुनिक भारतीय भाषाएँ सीखीं, भारतीय सभ्यता तथा उसके अतीत तथा वर्तमान रूपों को अच्छी तरह आत्मसात् किया। बड़ौदा-काल के अन्तिम वर्षों का अधिकांश मौन राजनैतिक गतिविधि में बीता, क्योंकि बड़ौदा में अपने पद की वजह से वे सार्वजनिक राजनीतिक गतियों में भाग नहीं ले सकते थे।

१९०५ में बंगाल-विभाजन के विरुद्ध हुए आन्दोलन ने श्रीअरविन्द को सुअवसर प्रदान किया और वे बड़ौदा की नौकरी छोड़ कर, सक्रिय रूप से राजनैतिक आन्दोलन में आ पहुँचे। १९०६ में उन्होंने बड़ौदा छोड़ा और कलकत्ता आकर नव-स्थापित 'बंगाल नैशनल कॉलेज' के प्रधानाध्यापक का पद-भार सँभाल लिया। श्रीअरविन्द का राजनैतिक कार्य-कलाप—१९०२ से १९१०—आठ वर्षों तक चला। पहले चार साल उन्होंने परदे के पीछे रह कर कार्य किया, यानी, अपने सहकर्मियों के साथ स्वदेशी-आन्दोलन (Indian Sinn Fein) की शुरुआत में हिस्सा लिया, और जब बंगाल का आन्दोलन शुरू हुआ तो उस हड़कम्प ने उन्हें खुला न्योता दिया कि वे इण्डियन नैशनल काँग्रेस के नरमपन्थी के सिद्धान्त को न अपना कर, सामने प्रकट होकर सीधा राजनीति में कूद पड़ें। १९०६ में वे इसी उद्देश्य से बंगाल आये और उस नयी पार्टी से जुड़ गये जिसे हाल ही में काँग्रेस ने रूप दिया था, जिसमें लोगों की संख्या कम थी और जो अभी तक अपने प्रभाव में प्रबल न हुई थी। इस पार्टी का राजनैतिक सिद्धान्त असहयोग आन्दोलन से एकदम भिन्न था, काँग्रेस की वार्षिक सभा में नरमपन्थी नेताओं के साथ इनकी कुछ झड़पें भी हुई थीं...। श्रीअरविन्द ने बंगाल में इस दल के नेताओं को समझाया कि वे अखिल भारतीय पार्टी के रूप में खुले तौर पर सामने आयें, अपना निश्चित और चुनौतीभरा कार्यक्रम प्रस्तुत करें, उनका सुझाव था कि वे लोकप्रिय मराठा नेता तिलक को पार्टी का अध्यक्ष बनायें और उस समय के प्रभावी, नरमपन्थियों (सुधारकों या उदारवादियों) यानी, पुराने राजनेताओं के गुटतन्त्र पर प्रहार कर, काँग्रेस तथा देश को उनके पंजे से छुड़ा लें। नरमपन्थियों और राष्ट्रवादियों के बीच (जिन्हें उनके विरोधी चरमपन्थी कहा करते थे) यही ऐतिहासिक संघर्ष था जिसने दो साल के अन्दर भारतीय राजनीति का चेहरा ही पूरी तरह बदल डाला।

नयी जन्मी राष्ट्रवादी पार्टी ने स्वराज (स्वतन्त्रता) को लक्ष्य के रूप में सामने रखा, जब कि नरमपन्थियों की सुदूर आशा थी कि धीरे-धीरे सुधार के साथ—भले उसमें एक सदी लगे या दो लगें—अपनी औपनिवेशिक सरकार हो।... नयी पार्टी का मन्त्र था—आत्म-निर्भरता; एक तरफ़ उसने राष्ट्र की शक्तियों की प्रभावकारी व्यवस्था को लक्ष्य बनाया और दूसरी तरफ़

१. यह ध्यान देने की बात है कि इंग्लैण्ड में हुई श्रीअरविन्द की शिक्षा ने उन्हें प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक यूरोप के बारे में विस्तृत ज्ञान प्रदान किया। ग्रीक और लैटिन भाषाओं के वे पण्डित थे। फ़्रेंच उन्होंने बचपन ही में मैनचेस्टर में सीखी थी और आत्म-अध्ययन करके इतने पर्याप्त रूप में सीख ली थी कि गेटे और दाँते की रचनाएँ वे मूल में पढ़ा करते थे। केम्ब्रिज में ट्राइपॉज़ की परीक्षा उन्होंने पहली डिवीज़न में पास की और भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा में ग्रीक और लैटिन में इन्हें प्रशंसनीय अंक मिले।

सरकार की नीति के साथ पूरी तरह से असहयोग का डंका पीट दिया।

ब्रिटिश तथा विदेशी चीज़ों का बॉयकॉट, उनकी जगह स्वदेशी उद्योगों की स्थापना, ब्रिटिश-शासन-प्रणाली को नकार कर अपने मध्यस्थों अथवा पंचों को बिठाना, सरकारी यूनिवर्सिटी और कॉलेजों का बहिष्कार करके राष्ट्रीय कॉलेज तथा विद्यालय खड़ा करने की पूरी योजना बना कर उसे लागू करना, समाज में ऐसे युवाओं का दल बनाना जो पुलिस तथा देश की सुरक्षा का कार्यभार सँभाल लें, अगर प्रतिरोध करना हो तो पीछे न हटें। श्रीअरविन्द को आशा थी कि वे काँग्रेस को अपने हाथ में लेकर उसे एक सुव्यवस्थित राष्ट्रीय कार्य का सीधा केन्द्र बना देंगे, यानी, राष्ट्र के अन्दर एक पूरा अनौपचारिक राष्ट्र कार्य करेगा, जो स्वतन्त्रता प्राप्त होने तक जी-जान से स्वतन्त्रता-संग्राम में जुटा रहेगा। उन्होंने अपनी पार्टी को इस दिशा में बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया, साथ ही नव-स्थापित दैनिक पत्र—बन्दे मातरम्—को आर्थिक तथा अन्य सभी दृष्टियों से अपना समर्थन करने को कहा। उस समय वे उसके कार्यकारी सम्पादक थे, वस्तुतः, इसके आरम्भ, यानी १९०७ से ही 'बन्दे-मातरम्' का अथ से इति तक सारा कार्यभार वे ही सँभाले हुए थे, और सारे भारत में इसका प्रसार हो रहा था कि १९०८ में सब कुछ यकायक ठप्प पड़ गया जब श्रीअरविन्द को एक वर्ष कारावास सुना दिया गया। लेकिन इस अल्पकाल में भी 'बन्दे-मातरम्' ने सारे देश में तहलका-सा मचा दिया, लेकिन तब भारत तैयार न था और भविष्य में झाँकने का ऐसा बड़ा, निर्णायक क़दम वह उठा न पाया...।

श्रीअरविन्द ने एक वर्ष कारागार में बिताया... वे अलीपुर बम-केस के षड्यन्त्र में पकड़े गये थे, उनके ऊपर यह आरोप भी लगा था कि वे अपने भाई बारीन्द्र के नेतृत्व में चल रहे क्रान्तिकारी दल में सक्रिय रूप से भाग ले रहे थे, लेकिन कोई भी ठोस सबूत न मिलने के कारण उन्हें मई १९०९ में रिहा कर दिया गया। बाहर आकर उन्होंने देखा कि सारा कार्य तितर-बितर हो गया था, नेताओं को जेल की सज़ा सुना दी गयी थी। क़रीब साल भर तक उन्होंने अकेले ही अपने आन्दोलन को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इसी समय उन्होंने अंग्रेज़ी अख़बार 'कर्मयोगिन्' और एक बंगला साप्ताहिक 'धर्म' निकाला। लेकिन अन्त में उन्हें पता लग गया कि राष्ट्र उनके राजनैतिक कार्यक्रम का अनुसरण करने के लिए पर्याप्त रूप से तैयार नहीं है। पहले उन्होंने सोचा कि नरमपन्थियों के विरोध में वे एक आन्दोलन का आरम्भ करें, लेकिन फिर उन्होंने देखा कि इस सबका मुहूर्त नहीं आया है और इस कार्य के लिए वे निर्दिष्ट नेता नहीं हैं। और सबसे बढ़ कर यह कि बारह महीने एकान्त कारावास में रह कर—जो काल उन्होंने पूरी तरह से योगाभ्यास में बिताया था—उनका आध्यात्मिक जीवन उन्हें पूरी तरह से दूसरी ही ओर खींच रहा था—एकाग्र ध्यान और निदिध्यासन की ओर। अतः, उन्होंने निश्चय किया कि कम-से-कम कुछ समय के लिए वे राजनैतिक क्षेत्र से हट जायेंगे...।

फ़रवरी १९१० में गुप्त एकान्तवास के लिए वे (तृतीय पुरुष में श्रीअरविन्द द्वारा लिखित) चन्दननगर चले गये तथा अप्रैल के आरम्भ में फ्रेंच-भारत स्थित पॉण्डिचेरी आ गये। इस समय 'कर्मयोगी' में एक हस्ताक्षरित लेख के लिए उनके विरुद्ध तीसरी बार मुक़द्दमा चलाया गया।

उनकी उपस्थिति में समाचार-पत्र के मुद्रक पर दोषारोपण किया गया किन्तु अपील करने पर कलकत्ता के उच्च न्यायालय में इसे रद्द कर दिया गया। उनके विरुद्ध तीसरी बार अभियोग असफल रहा था। श्रीअरविन्द ने अधिक अनुकूल परिस्थितियों में राजनीतिक क्षेत्र में पुनः लौट आने के अभिप्राय से बंगाल छोड़ा था। किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपने आध्यात्मिक कार्य की विशालता का अनुभव किया और उन्हें लगा कि इसमें उनकी समस्त शक्ति की एकनिष्ठ एकाग्रता की ज़रूरत होगी। अन्ततोगत्वा उन्होंने राजनीति से सम्पर्क तोड़ लिया, राष्ट्रीय काँग्रेस की अध्यक्षता अनेक बार अस्वीकृत कर दी तथा पूर्ण एकान्तवास में चले गये। पॉण्डिचेरी में १९१० से वर्तमान समय तक अपने सम्पूर्ण आवास की अवधि में वे एकनिष्ठ रूप से अपने आध्यात्मिक कार्य और अपनी साधना के प्रति निवेदित रहे।

वर्ष १९१४ में, नीरव योग के चार वर्षों के पश्चात् उन्होंने एक दार्शनिक मासिक पत्रिका, 'आर्य' का प्रकाशन आरम्भ किया। उनकी अधिकांश महत्त्वपूर्ण रचनाएँ, जैसे—ईश-उपनिषद्, गीता-प्रबन्ध, अन्य, जो अभी तक अप्रकाशित हैं, दिव्य जीवन, योग-समन्वय 'आर्य' में क्रमिक रूप से प्रकाशित होती रहीं। इन रचनाओं में उनके योगाभ्यास द्वारा प्राप्त आन्तरिक ज्ञान का अधिकांश मूर्तिमान् हो गया। अन्य रचनाएँ भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की भावना तथा महत्त्व, वेद के वास्तविक अर्थ, मानव समाज की प्रगति, काव्य की प्रकृति तथा क्रमिक विकास, मानवजाति की एकता की सम्भावना से सम्बन्धित थीं। उसी समय उन्होंने अपनी उन कविताओं का भी प्रकाशन आरम्भ कर दिया जो उन्होंने इंग्लैण्ड में, बड़ौदा में, राजनीतिक गतिविधि की अवधि तथा पॉण्डिचेरी आवास के प्रथम वर्ष में लिखी थीं। वर्ष १९२१ में साढ़े छह वर्ष के निर्बाध प्रकाशन के पश्चात् 'आर्य' बन्द हो गया।

सबसे पहले श्रीअरविन्द पॉण्डिचेरी के एकान्तवास में अपने चार या पाँच शिष्यों के साथ रहते थे। तत्पश्चात् उनके आध्यात्मिक पथ का अनुगमन करने के लिए अधिक लोग उनके पास आने लगे। और उनकी संख्या इतनी अधिक हो गयी कि उन लोगों के भरण-पोषण तथा सामूहिक मार्गदर्शन के लिए, जो एक उच्चतर जीवन के लिए अपनी हर चीज़ पीछे छोड़ चुके थे—साधकों का एक समुदाय बनाना पड़ा। श्रीअरविन्द आश्रम की स्थापना का यही आधार था जिसके केन्द्र के रूप में उनके चारों ओर निर्माण-कर्म किया गया और स्वाभाविक संवर्धन अधिक हुआ।

श्रीअरविन्द ने योग का अपना अभ्यास १९०५ में आरम्भ किया। सबसे पहले वे इसमें आध्यात्मिक अनुभूति के मूलभूत तत्त्वों को, जो दिव्य समागम तथा आध्यात्मिक सिद्धि से उपलब्ध होते हैं—भारत में आने तक एकत्र करते रहे। फिर वे एक ऐसी अधिक पूर्ण अनुभूति की ओर आगे बढ़ गये जो सत्ता के दोनों छोरों—आत्मन् और जड़-पदार्थ—को संयुक्त करते हैं। योग की अधिकांश विधियाँ आत्मन् तक मार्गदर्शित करने वाले परे जाने के मार्ग हैं जो अन्त में जीवन से दूर ले जाते हैं। श्रीअरविन्द का योग आत्मन् तक आरोहण करता है और ज्योति, शक्ति तथा आनन्द के साथ उसकी उपलब्धियों को जीवन के रूपान्तरण के लिए नीचे

अवरोहित करता है। इस दृष्टिकोण से भौतिक जगत् में मनुष्य का वर्तमान अस्तित्व अज्ञानमय जीवन है जिसके मूल में निश्चेतना का राज्य है। किन्तु इस अन्धकार और निश्चेतना में भी भगवान् की उपस्थिति तथा सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हैं। यह सृजित जगत् कोई भूल अथवा निस्सार और माया नहीं है जिसे त्याग कर आत्मा स्वर्ग अथवा निर्वाण की ओर लौट जाये, बल्कि एक आध्यात्मिक क्रमविकास का ऐसा दृश्य है जिसके द्वारा इस भौतिक निश्चेतना में से वस्तुओं में निहित भागवत चेतना को क्रमिक रूप से अभिव्यक्त किया जा सकता है। क्रमविकास में मन अब तक हमारी पहुँच की अन्तिम सीमा है, परन्तु यह विकास की क्षमता की अन्तिम सीमा नहीं है। इसके ऊपर अतिमानस अथवा शाश्वत सत्य-चेतना है जो अपनी प्रकृति में एक भागवत ज्ञान का आत्म-सचेतन तथा आत्म-निर्धारक प्रकाश तथा शक्ति है। मन सत्य की खोज करने वाला अज्ञान है किन्तु अतिमानस स्वयम्भू ज्ञान है जो अपने रूपों तथा शक्तियों की क्रीड़ा को सामञ्जस्य के साथ अभिव्यक्त कर रहा है। केवल इसी अतिमानस के अवरोहण के द्वारा वह पूर्णता आ सकती है जिसका सबने सपना देखा है और जो मानवता में उच्चतम है। महत्तर दिव्य चेतना के प्रति उद्घाटन द्वारा ज्योति तथा आनन्द की इस शक्ति की ओर ऊपर उठना, अपने सच्चे व्यक्तित्व की खोज करना, भगवान् के साथ सतत संयुक्त रहना तथा मन, प्राण और शरीर के रूपान्तरण के लिए अतिमानसिक शक्ति को नीचे लाना सम्भव है। इस सम्भावना को सिद्ध करना श्रीअरविन्द के योग का गत्यात्मक लक्ष्य रहा है।

CWSA खण्ड ३६, पृ. ५-१० **श्रीअरविन्द**

परिभाषाएँ[१]

सिद्धि है धरती पर अतिमानसिक सत्य की प्रतिष्ठा।

रूपान्तर वह परिवर्तन है जिसके द्वारा सत्ता के सभी तत्त्व और सभी गतिविधियाँ अतिमानसिक सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

परिवर्तन है सत्ता की सभी गतिविधियों का भगवान् की ओर मुड़ना।

चेतना है किसी भी वस्तु के बारे में तादात्म्य द्वारा अभिज्ञ होने की क्षमता।

दिव्य चेतना केवल अभिज्ञ ही नहीं होती बल्कि जानती और कार्यान्वित करती है। उदाहरण के लिए, किसी स्पन्दन के बारे में अभिज्ञ होने का मतलब यह नहीं है कि तुम उसके बारे में सब कुछ जानते हो।

[१] ये परिभाषाएँ शायद १९२९ में या उसके आस-पास फूलों का अर्थ समझाने के लिए दी गयी थीं।

इच्छा (संकल्प) चेतना की वह शक्ति है जो कार्यान्वित करने की ओर मुड़ी रहती है। भागवत इच्छा वह इच्छा है जो उच्चतम सत्य को व्यक्त करती है।

धैर्य है सिद्धि के आने के लिए स्थिरता के साथ प्रतीक्षा करने की क्षमता।

अध्यवसाय है क्रिया में धैर्य।

सहनशीलता है उदास हुए बिना सह सकने की क्षमता।

उद्घाटन चेतना की वह मुक्ति है जिसके द्वारा वह अपने अन्दर दिव्य प्रकाश और दिव्य शक्ति की क्रिया को प्रविष्ट करना शुरू करती है।

ग्रहणशीलता भगवान् की क्रिया को अपने अन्दर प्रवेश देने और बनाये रखने की क्षमता है।

निष्काम कर्म ऐसा कर्म है जो भगवान् का काम यथासम्भव अच्छे-से-अच्छी तरह करने के हेतु के सिवा किसी और हेतु से न किया जाये।

अग्नि चैत्य पुरुष में शुद्धि और रूपान्तर की ज्वाला है।

मन में **विजय** का अर्थ है मन के अन्दर अतिमानसिक सत्य का राज्य।

श्रद्धा है भगवान् पर विश्वास और भगवान् की विजय की अविचल निश्चिति।

नीरवता सत्ता की वह अवस्था है जब वह भगवान् की बात सुनती है।

भगवान् की बलि है भगवान् का निश्चेतना के अन्धकार में अवतरण।

शुद्धि है भगवान् के प्रभाव को छोड़ कर और किसी प्रभाव को स्वीकार न करना।

निष्ठा या ईमानदारी भगवान् द्वारा प्रेरित और निर्दिष्ट गतिविधियों को छोड़ कर अन्य किन्हीं गतिविधियों को स्वीकार या व्यक्त न करना।

सच्चाई (निष्कपटता) है सत्ता की सभी गतिविधियों को अभी तक उपलब्ध उच्चतम

चेतना और उपलब्धि के स्तर तक उठाना।

यह सत्ता के सभी भागों और समस्त गतियों का भागवत इच्छा के चारों ओर एकीकरण और सामञ्जस्य की माँग करती है।

कृतज्ञता भगवान् से प्राप्त कृपा की प्रेमसहित स्वीकृति।

तुम्हारे लिए भगवान् ने जो कुछ किया है और कर रहे हैं उसका विनम्र स्वीकरण।

भगवान् के प्रति कृतज्ञता का सहज भाव, जो तुम्हें भगवान् तुम्हारे लिए जो कुछ कर रहे हैं उसके कम अयोग्य बनने के लिए अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करने के लिए प्रेरित करता है।

श्रीमाँ

शरीर का रूपान्तर

यह तथ्य है कि 'परम देव' ने हमेशा शरीर को रूपान्तरित करने और उसे धरती पर अपनी अभिव्यक्ति का एक उपयुक्त यन्त्र बनाने के उद्देश्य से भौतिक शरीर धारण किया। लेकिन यह भी एक तथ्य है कि अभी तक वे यह करने में असफल रहे हैं और किसी-न-किसी कारण उन्हें रूपान्तर के कार्य को अधूरा छोड़ कर अपना भौतिक शरीर त्यागना पड़ा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ५५

शरीर का महत्त्व स्पष्ट है। चूँकि मनुष्य ने एक ऐसा शरीर और मस्तिष्क विकसित किया है या यूँ कहें कि वे उसे दिये गये हैं जो एक प्रगतिशील मानसिक प्रकाश को ग्रहण करने और उसकी सेवा करने में समर्थ हैं इसीलिए मनुष्य पशु से ऊपर उठा है। इसी तरह, वह अपने-आपसे ऊपर केवल तभी उठ सकता है और पूर्णतः दिव्य मानवता को केवल अपने विचार और आन्तरिक सत्ता में ही नहीं बल्कि जीवन में भी तभी पा सकता है जब वह ऐसे शरीर का, या कम-से-कम शारीरिक उपकरण की ऐसी क्रियाशीलता का विकास कर ले जो उच्चतर प्रकाश को ग्रहण करने और उसकी सेवा करने में समर्थ हो। अन्यथा या तो प्राण का वचन रद्द हो जायेगा, उसका अर्थ नष्ट हो जायेगा और पार्थिव जीव अपने-आपको नष्ट करके मन, प्राण और शरीर को त्याग कर और शुद्ध अनन्त में लौट कर ही सच्चिदानन्द को पा सकेगा या फिर मनुष्य दिव्य उपकरण ही नहीं है, उसे दूसरे पार्थिव जीवों से अलग करने वाली जो सचेतन रूप से प्रगतिशील शक्ति है उसकी कोई सीमा निश्चित है और जैसे मनुष्य ने जगत् की दूसरी सत्ताओं को हटा कर आगे का स्थान पा लिया, उसी तरह अन्ततः कोई और सत्ता मनुष्य को हटा कर उसकी गद्दी सम्भाल लेगी।

CWSA खण्ड २१, पृ. २४५ **श्रीअरविन्द**

एक युक्तिसंगत और स्पष्टदर्शी शारीरिक शिक्षण के द्वारा हमें अपने शरीर को सुदृढ़ और नमनीय अवश्य बनाना चाहिये ताकि जो सत्य-शक्ति हमारे अन्दर अभिव्यक्त होना चाहती है उसके लिए हमारा शरीर इस जड़ जगत् के अन्दर एक उपयुक्त यन्त्र बन सके।

वास्तव में, शरीर को कभी हुक्म नहीं चलाना चाहिये, उसे तो हुक्म मानना चाहिये। अपने सहज स्वभाव में वह एक अनुगत और विश्वासपात्र सेवक है। दुर्भाग्यवश, अपने प्रभुओं के—मन और प्राण के—विषय में विवेक-विचार करने की क्षमता बहुधा उसमें नहीं होती। वह अन्ध-भाव से, अपने निजी हित का बलिदान देकर भी, उनकी आज्ञा का पालन करता है। मन अपने मतवादों, अपने कठोर और मनगढ़न्त सिद्धान्तों के द्वारा, प्राण अपनी उत्तेजनाओं, अपनी ज़्यादतियों और दुर्वृत्तियों के द्वारा शरीर की स्वाभाविक समतोलता नष्ट कर देते हैं और उसमें थकान, दुर्बलता और रोग उत्पन्न कर देते हैं। इस अत्याचार से शरीर को अवश्य मुक्त करना होगा, और चैत्य केन्द्र के साथ सत्ता का निरन्तर एकत्व स्थापित करने पर ही ऐसा करना सम्भव हो सकता है। हमारे शरीर में ढाल लेने और सहन करने की अद्‌भुत क्षमता होती है। हम साधारणतया जितना अनुमान कर सकते हैं उससे बहुत अधिक कार्य करने की क्षमता उसमें है। अभी जो अज्ञानी और स्वेच्छाचारी प्रभु इस पर शासन कर रहे हैं उनके स्थान पर यदि सत्ता के केन्द्रीय सत्य का शासन इस पर हो जाये तो उस समय इसकी कार्यक्षमता को देख कर मनुष्य दंग रह जायेगा। तब शान्त और स्थिर, दृढ़ और अचल रहते हुए हम जितना चाहें उतना प्रयास वह प्रत्येक मुहूर्त करेगा, क्योंकि उस समय वह सीख चुका होगा कि काम के अन्दर किस तरह विश्राम लिया जाता है, जिस शक्ति को वह ज्ञानपूर्वक और उपयोगी ढंग से ख़र्च कर रहा है उसकी पूर्ति वह विश्व-शक्तियों के साथ संस्पर्श स्थापित करके किस प्रकार कर सकता है। इस स्वस्थ और सन्तुलित जीवन में शरीर के अन्दर एक नया सामञ्जस्य अभिव्यक्त होगा जो उच्चतर क्षेत्रों के सामञ्जस्य को प्रतिबिम्बित करेगा और यह उच्चतर सामञ्जस्य शरीर को पूर्ण अंग-सौष्ठव और आदर्श सौन्दर्य प्रदान करेगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ८-९

वस्तुतः भौतिक सत्ता में एक प्रकार की सरलता होती है और सद्‌भावना भी (जो सदा बहुत ज्ञानपूर्ण नहीं होती, बिलकुल नहीं), किन्तु ऐसी सरलता और सद्‌भावना होती है जो इसे प्राण के आवेगों या मन की छलनाओं की अपेक्षा अन्तरात्मा के अधिक निकट सम्बन्ध में ले आती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ६

भौतिक साधना है—उच्चतर, प्रकाश, शक्ति, शान्ति तथा आनन्द को शारीरिक चेतना में उतार लाना, भौतिक के तमस्, भौतिक मन के सन्देहों, सीमाओं तथा बाहरी प्रवृत्तियों से, भौतिक-(स्नायविक) प्राणिक की दोषपूर्ण ऊर्जाओं से पिण्ड छुड़ाना और इन सबके स्थान पर

सच्ची चेतना को बिठाना ताकि भौतिक 'भागवत इच्छा-शक्ति' का पूर्ण यन्त्र बन सके।
CWSA खण्ड ३१, पृ. ३६७ **श्रीअरविन्द**

अतिमानसिक पूर्णता का अर्थ है कि शरीर सचेतन बन जाये, चेतना से सराबोर हो जाये और यह कि चूँकि वह 'सत्य'-चेतना है, अतः उसके समस्त कर्म, समस्त गतियाँ इत्यादि इस चेतना की शक्ति द्वारा उसके अन्दर सुसामञ्जस्यमय, उज्ज्वल, उचित तथा सत्य बन जायें—उसमें अज्ञान या अव्यवस्था का हलका भी पुट न रहे।
CWSA खण्ड २८, पृ. ३०५ **श्रीअरविन्द**

यह रूपान्तर पृथ्वी को स्वर्ग से मिलने वाला एक पावना है :
एक आपसी ऋण ने मानव को पुरुषोत्तम से बाँध दिया है :
हमें उसकी प्रकृति अपनानी है जैसे उसने हमारी धारणा की है;
हम उसके बालक हैं और हमें उसके समान बनना है :
उसके मानवीय अंश, हमें दिव्य बन कर विकसित होना है।
हमारा जीवन एक विरोधाभास है, जिसकी कुञ्जी परमेश्वर हैं।
सावित्री, पृ. ६७ **श्रीअरविन्द**

२३ मई १९५६ के वार्तालाप का एक अंश

मधुर माँ, योग और धर्म में क्या अन्तर है?

आह! मेरे बच्चे... यह तो ऐसा है मानों तुम मुझसे यह पूछो कि कुत्ते और बिल्ली में क्या अन्तर है!

(दीर्घ मौन)

एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करो जिसने, किसी-न-किसी रूप में, भगवान् जैसी किसी चीज़ के बारे में कुछ सुना है अथवा जिसे व्यक्तिगत रूप से ऐसा अनुभव हुआ है कि इस प्रकार की किसी वस्तु का अस्तित्व है। वह सब प्रकार के प्रयत्न करना आरम्भ करता है : संकल्प-शक्ति का प्रयोग, नियमानुशीलन, एकाग्रता का अभ्यास, सभी प्रकार के प्रयत्न इसलिए करता है कि वह इन भगवान् को पाये, यह पता लगाये कि वे क्या हैं, उनसे परिचित हो और उनके साथ युक्त हो जाये। तब कहा जायेगा कि यह व्यक्ति योग कर रहा है।

अब यदि इस व्यक्ति ने उन सभी प्रयुक्त प्रक्रियाओं को लिपिबद्ध कर लिया है और वह एक निश्चित शैली का निर्माण कर लेता है, और जो कुछ उसने अनुसन्धान किया है उस सबको अकाट्य नियमों के रूप में प्रस्थापित कर लेता है—उदाहरणार्थ, वह कहता है : भगवान् इस प्रकार के हैं, भगवान् को पाने के लिए तुम्हें ऐसा करना ही होगा, यह विशिष्ट भंगिमा अपनानी होगी, यह मनोभाव बनाना होगा, यह अनुष्ठान सम्पन्न करना होगा, और तुम्हें अवश्य स्वीकार करना होगा कि **यही** सत्य है, तुम्हें अवश्य कहना होगा : "मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यही है सत्य और मैं पूर्ण रूप से इससे सम्बद्ध हूँ; और तुम्हारी पद्धति ही एकमात्र सही पद्धति है, उसके लिए एकमात्र पद्धति जिसका अस्तित्व है"—यदि यह सब लिख लिया गया हो, किन्हीं सुनिश्चित विधानों और अनुष्ठानों में संगठित और व्यवस्थित कर दिया गया हो तो यही बन जाता है धर्म।

क्या मनुष्य इस पद्धति (धर्म की पद्धति) से भगवान् को उपलब्ध कर सकता है?

जो लोग अपने अन्दर आध्यात्मिक भवितव्यता वहन करते हैं और भगवान् को प्राप्त करने के लिए, उनके प्रति सचेतन होने तथा उनको जीवन में संसिद्ध करने के लिए जन्म लेते हैं, वे, चाहे जिस भी पथ का, जिस भी पद्धति का अनुसरण क्यों न करें, वहाँ पहुँच जायेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि धर्म में भी ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किये हैं और भगवान् को पाया है—धर्म के कारण नहीं, सामान्यतया इसके बावजूद, इसके होते हुए भी—कारण, उनमें एक आन्तरिक प्रेरणा थी और वह प्रेरणा सभी कठिनाइयों के बावजूद, और उनके भीतर से होते हुए उन्हें वहाँ ले गयी। प्रत्येक वस्तु उनके लिए अच्छी थी।

परन्तु ये ही लोग यदि अपने अनुभव को व्यक्त करना चाहते हैं तो वे स्वभावतः ही उस धर्म के शब्दों का व्यवहार करते हैं जिसमें वे पले थे, अतएव वे अपने अनुभव को सीमित कर देते हैं और उसे अनिवार्यतः बहुत अधिक सीमाबद्ध कर देते हैं, वे उसे मानों साम्प्रदायिक बना देते हैं। परन्तु हो सकता है कि उन्होंने स्वयं सभी प्रथागत रीतियों, सभी प्रकार की सीमाओं और सभी परम्पराओं को भली-भाँति अतिक्रान्त कर लिया हो और विशुद्ध सरल रूप में सच्चा अनुभव प्राप्त किया हो।

मधुर माँ, आज संसार में अधिकतर लोग किसी-न-किसी धर्म का अनुसरण करते हैं। क्या उन्हें सहायता मिलती है?

बहुत नहीं।

शायद वे अब फिर से आरम्भ कर रहे हैं, परन्तु इस शताब्दी के प्रारम्भ में बहुत दीर्घकाल तक, उन्होंने धर्म को ज्ञान के विपरीत कोई वस्तु मान कर त्याग दिया था—कम-से-कम सभी

बुद्धिप्रधान लोगों ने त्याग दिया था। केवल अभी हाल में ही पक्के प्रत्यक्षवाद से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की ओर लौटने की क्रिया प्रारम्भ हुई है।

लोग सामाजिक अभ्यासवश किसी धर्म का पालन करते हैं, इसलिए करते हैं कि दूसरे लोग उनकी निन्दा न करें। उदाहरणार्थ, गाँव में, धार्मिक अनुष्ठानों में न जाना कठिन होता है, क्योंकि तुम्हारे सभी पड़ोसी तुम्हारी ओर अंगुलियाँ उठाते हैं। परन्तु इस बात का आध्यात्मिक जीवन के साथ बिलकुल कोई सम्बन्ध नहीं है, बिलकुल कुछ नहीं।

(मौन)

जब पहली बार मैं भारत आयी तो एक जापानी जहाज़ से आयी थी। इस जापानी जहाज़ पर दो पादरी, अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों के 'प्रोटेस्टेंट प्रीस्ट' थे। मुझे याद नहीं कि ठीक-ठीक किन सम्प्रदायों के थे, पर वे दोनों अंग्रेज़ थे; मेरा ख़याल है कि एक तो था ऐंग्लीकन और दूसरा था प्रेस्बीटेरियन।

अब, रविवार आया। जहाज़ पर धार्मिक अनुष्ठान करना ज़रूरी था, नहीं तो वे जापानियों की तरह पेगन समझे जायेंगे! अनुष्ठान करना ही होगा, पर कौन उसे सम्पन्न करे? ऐंग्लीकन करे या प्रेस्बीटेरियन? बस, इस बात पर झगड़ा शुरू हो गया। अन्त में, उनमें से एक सम्मान के साथ चुप बैठ गया—मुझे अब याद नहीं कि वह कौन था, मेरा ख़याल है कि वह ऐंग्लीकन था—और प्रेस्बीटेरियन ने अपना अनुष्ठान सम्पन्न किया।

वह जहाज़ के एक बड़े कमरे में सम्पन्न हुआ। हमें इस कमरे में जाने के लिए कुछ सीढ़ियाँ नीचे जाना था। उस दिन, सभी पुरुषों ने अपना सूट पहना—वह गर्मी का दिन था, मेरा ख़याल है कि हम लाल सागर में थे... उन्होंने अपना वेस्ट-कोट पहना, कॉलर लगाया, जूते पहने; नेकटाइयाँ भली-भाँति बाँधी, सिर पर हैट रखा और वे नीचे गये, उनके हाथ में एक पुस्तक थी, डेक से उस कमरे तक लगभग एक जुलूस के रूप में वे लोग गये। महिलाओं ने भी अपना-अपना हैट पहना, किसी-किसी के हाथ में छतरी भी थी, और उनके हाथों में भी एक पुस्तक, प्रार्थना की एक पुस्तक थी।

इस तरह वे सब नीचे कमरे में भर गये, और उस प्रेस्बीटेरियन ने एक प्रवचन दिया, अर्थात् धर्मोपदेश दिया, और प्रत्येक व्यक्ति ने बहुत धार्मिक भाव के साथ सुना। और फिर, जब वह समाप्त हो गया, वे सब ऊपर आ गये, उस व्यक्ति के जैसे सन्तोष के साथ जिसने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया हो। और स्वभावतः ही, पाँच मिनट बाद वे 'बार' में जाकर शराब पीने लगे और ताश खेलने लगे, उनका धार्मिक अनुष्ठान विस्मृति के गर्भ में जा डूबा। उन्होंने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया था, सब समाप्त हो गया था, अब उस विषय में कुछ भी और कहने की आवश्यकता नहीं थी।

और पादरी, प्रायः विनम्रता के साथ, मुझसे यह पूछने आया कि मैंने क्यों भाग नहीं लिया।

मैंने उससे कहा : "महाशय, मुझे खेद है, पर मुझे धर्म में विश्वास नहीं है।"

"ओह ! ओह ! आप जड़वादी हैं !"

"नहीं, बिलकुल नहीं।"

"आह ! फिर क्यों ?"

"ओह ! यदि मैं आपको बता दूँ तो आप काफ़ी नाराज़ हो जायेंगे, कोई बात न कहना ही मेरे लिए कहीं अधिक अच्छा होगा !"

परन्तु उसने इतना अधिक आग्रह किया कि मैंने अन्त में कहा : "बस, बात यही है कि मैं नहीं समझती कि आप सच्चे हैं, न तो आप और न आपका दल। आप सब वहाँ एक सामाजिक कर्तव्य पूरा करने और एक सामाजिक रीति-रिवाज का पालन करने गये, इसलिए बिलकुल नहीं गये कि आपने वास्तव में ईश्वर के साथ सम्पर्क प्राप्त करना चाहा था।"

"भगवान् के साथ सम्पर्क प्राप्त करना ! पर वह तो हम नहीं कर सकते ! हम अधिक-से-अधिक यही कर सकते हैं कि कुछ अच्छे शब्द कहें, परन्तु हमारे अन्दर ईश्वर के साथ सम्पर्क स्थापित करने की क्षमता नहीं है।"

तब मैंने कहा : "परन्तु ठीक यही कारण था कि मैं वहाँ नहीं गयी, क्योंकि उसमें मेरी रुचि नहीं है।"

उसके बाद उसने मुझसे बहुत-से प्रश्न किये और मुझे भेद की बात बतायी कि वह 'पेगनों' को धर्मान्तरित करने के लिए चीन जा रहा है। उस पर मैं गम्भीर हो गयी और उससे बोली : "सुनिये, आपके धर्म के पैदा होने से भी पहले—अभी दो हज़ार वर्ष भी नहीं बीते हैं—चीनी लोगों के पास एक बहुत ऊँचा दर्शनशास्त्र था और उन्हें उस पथ का ज्ञान था जो उन्हें भगवान् तक ले जाता था; और जब वे पाश्चात्य लोगों की बात सोचते हैं तब वे उन्हें बर्बर समझते हैं। और आप वहाँ जा रहे हैं उन लोगों को धर्म सिखाने जो उसके विषय में आपसे कहीं अधिक जानते हैं ? आप उन्हें क्या सिखाने जा रहे हैं ? कपटी होना, एक गहरे दर्शनशास्त्र का अनुसरण करने तथा जीवन से अनासक्त होने के बदले, जो चीज़ें उन्हें एक अधिक आध्यात्मिक चेतना की ओर ले जाती हैं उनके बदले, खोखले अनुष्ठानों को सम्पन्न करना ?... मैं नहीं समझती कि आप कोई बहुत अच्छी चीज़ करने जा रहे हैं।"

तब उसने अपना दम घुटता-सा अनुभव किया, बेचारा ! वह मुझसे बोला : "ओह, मुझे भय है, आपके शब्दों से मेरा विश्वास बदल नहीं सकता !"

"ओह !" मैंने कहा, "मैं आपको विश्वास दिलाने की चेष्टा नहीं कर रही हूँ, मैं केवल आपके सामने यथार्थ स्थिति का वर्णन कर रही हूँ, और मैं बिलकुल नहीं समझ पाती कि क्यों बर्बर लोग उन सभ्य लोगों को वह चीज़ सिखाने के लिए जाना चाहते हैं जिसे वे उनसे बहुत पहले से जानते हैं। बस।"

और बात यहीं समाप्त हो गयी।

माताजी, बौद्ध परम्परा में कहा गया है...

ओह! ओह! तुम बौद्ध बन रहे हो! यह फ़ैशन है।

हाँ?

ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध के जन्म से दो हज़ार पाँच सौ वर्ष बाद...

हाँ, वे एक नये बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए वापस आयेंगे, यही बात है न?

ऐसा लगता है कि उनकी शिक्षा का अन्त हो जायेगा, और उसके स्थान पर कोई नयी चीज़ आ जायेगी।

हाँ, उस सज्जन ने... क्या है उनका नाम... 'अ' ने तुमसे यह कहा था?

परन्तु वह उनकी अपनी धारणा है। उन्होंने मुझसे भी कहा था कि उनकी समझ से श्रीअरविन्द ही वह व्यक्ति हैं जिन्होंने बुद्ध की शिक्षाओं को चरितार्थ किया है। क्या यही बात है? तुम उनका व्याख्यान सुनने नहीं गये थे?... नहीं, तब तुम क्या पूछना चाहते हो?

कारण वह समय अब आ गया है—कल वह दिन होगा जब दो हज़ार पाँच सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे—क्या नवीन चीज़ से इसकी संगति बैठती है?

कौन-सी नवीन चीज़?

नवीन अतिमानसिक अभिव्यक्ति।

ओह! सुनो, यह मुझे ठीक उसी प्रकार की खोज प्रतीत होती है जिसे मनुष्य उस समय करता है जब वह कोई सनसनीख़ेज़ चीज़ चाहता है।

ग्रन्थों की व्याख्या करने के सर्वदा बहुत-से तरीक़े होते हैं, और मनुष्य उसी के अनुसार व्याख्या करता है जो वह उनसे कहलाना पसन्द करता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १७६-८१

श्रीअरविन्द के उत्तर

(८५)

साधना में थोड़ा भी एकाग्र होना मेरे लिए असम्भवप्रायः हो रहा है। एकमात्र एकाग्रता फ़्रेंच पढ़ने के समय होती है, लेकिन वहाँ भी मैं मन की कुछ गुफाओं को खुलते हुए देखता हूँ। मैं अपने-आपको सूरत के गाँवों के घरों, सड़कों या व्यक्तियों के बीच पाता हूँ, और उन उथले प्राणिक सम्पर्कों की मधुर स्मृतियाँ मुझे भर देती हैं। उसके बाद मेरा पूरा पतन हो जाता है। मैं शुरू में जैसा था उससे कहीं ज़्यादा बदतर बन जाता हूँ—पहले तो कम-से-कम एक प्रबल मानसिक प्रयास तो रहता था। और उससे भी बढ़ कर यह कि मुझे ऐसा महसूस होता है कि मेरे अन्दर की कोई केन्द्रीय या प्रमुख चीज़ निकल गयी या पटरी से उतर गयी है।

यह सब क्रियाशील अवचेतन मन है जो समान चीज़ें, यादें, सम्पर्क इत्यादि ऊपर ले आता है। प्रमुख चीज़ न तो चली गयी है और न ही पटरी से उतर गयी है, लेकिन जब तुम भौतिक चेतना के आवेशों की क्रिया में अपने-आपको बह जाने देते हो तो वह निष्क्रिय बन जाती है। वह मन में मानसिक इच्छा का केन्द्र थी। तुम्हें या तो उसे फिर से जगाना होगा या वहाँ से निकल कर, उच्चतर इच्छा के केन्द्र के कुछ ऊपर, सामान्य मन की क्रिया के ऊपर जाना होगा। यह थोड़े अध्यवसाय की बात है।

आज सारे दिन मेरी हालत क़रीब-क़रीब कल जैसी ही थी, उसके साथ अकेलेपन और थकान की भी भावना थी। ध्यान के समय एकाग्र होने की कोशिश करते हुए मैं एक बार भटक गया। मुझे याद हो आयी एक मरीज़ की जिसका मैंने इलाज किया था, लेकिन मुझे सफलता नहीं मिली थी, और मेरा सारा मन उसी पर मुड़ गया। मस्तिष्क में एक तरह का चिड़चिड़ापन भी आ गया। और इस सबके ऊपर, ध्यान के बाद पुराणी ने मेरे कन्धे पर टकोर देकर बम्बई के एक दोस्त के बारे में बतलाया जो मुझसे तथा औरों से मिलने की आशा लिये, किसी दिन यहाँ आना चाहता है—यहाँ के लगभग सभी गुजराती उसे जानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हम वहाँ घनिष्ठ मित्र थे, लेकिन यह मैं सोच ही कैसे सकता था कि वह यहाँ आश्रम में आना चाहेगा? अब तो मैं इस सोच में पड़ा हूँ कि अगर वह आ गया तो मैं क्या करूँगा! जब मैं यहीं सारा-सारा दिन यहाँ के साधकों के साथ न के बराबर बातचीत करता हूँ, तो मेरे लिए यह कैसे सम्भव होगा कि मैं एक बाहरवाले के

साथ बैठ कर समय बिताऊँ, वह भी ऐसे के साथ जो सम्भवतः यहाँ से मुझे ले जाने के सभी तर्क-वितर्क सुझायेगा?

स्पष्ट है कि ऐसा मिलना सहायक नहीं होगा।

फिर से पुराणी के साथ बातचीत कामुक-केन्द्र पर दबाव ले आयी—आजकल की अवस्था में जिसका आना कितना सहज हो रहा है!

उसका ऐसा असर होना बहुत अजीब बात है क्योंकि यह ऐसी क्रिया है जिस पर पुराणी हमेशा अधिकार पाने में सफल रहा है, क्योंकि वह इसके बारे में अपने ऊपर बहुत कठोर है—उसकी प्राणिक कठिनाइयाँ और तरह की थीं। लेकिन शायद वह अपने वातावरण में इसे लिये रहता है, क्योंकि उसके चारों ओर के लोग इसे भुगत रहे हैं।
२८ मई १९३५

कैसे-कैसे सपने—अजीब लोग, अजीब स्त्रियाँ, अजीब लड़के, यहाँ का एक भी सपना नहीं आता! जब मैं उठता हूँ तो मुझे लगता है कि अभी और सोने की ज़रूरत है, जब कि मैं सात घण्टे सो चुकता हूँ। उठने पर मुझे कमज़ोरी और थकान लगती हैं और यहाँ से चले जाने की तरफ़ मन झुक जाता है। मेरे लिए एकाग्र होना प्रायः असम्भव हो गया है। एकाग्र होने की कोशिश करने पर भी बस उथली चीज़ें ही ऊपर उठती हैं, या सूरत के स्थानों की एकाध कौंध इधर-उधर चमक उठती है, और यह चीज़ मुझे इस पसोपेश में डाल देती है कि कहाँ हूँ मैं—यहाँ या वहाँ?

अवचेतना की पूरी-पूरी बाढ़ उमड़ती हुई जान पड़ रही है—उसे गुज़र जाने दो और उस पर नज़र रखो, लेकिन साक्षी-चेतना को अपने अन्दर पृथक् रखो।
२९ मई १९३५

सेक्स की कल्पना में बह जाना कितना आसान होता है! लेकिन वहाँ भी, अब न के बराबर मेरी दिलचस्पी है, अधिकतर सम्पर्कों से मेरा पूरा-पूरा रिश्ता कट गया है। मुझे तो अब किसी को रास्ते में मिल जाने पर मुस्कुराने में भी बड़ी दिक़्क़त होती है—यहाँ तक कि मैं उनके साथ बातचीत से भी कतराता हूँ और परिणामों के बारे में भी भय खाता हूँ। इस तरह सम्पर्क काटना भी ख़तरनाक हो सकता है क्या? क्या इसका अर्थ अपनी इच्छाओं को दबाना है? कुछ हद तक तो ऐसा होता है मानों इस तरह सम्पर्क काट देना सेक्स की कल्पनाओं में बदल जाता है

और किसी भौतिक रूप में अभिव्यक्त होने के लिए झपटता है। इसका यह मतलब हुआ कि यह सच्चा त्याग नहीं होता और यह या तो कोई अस्थायी चीज़ होती है या फिर असुविधा और भय के मारे अस्वीकृति।

लेकिन दोनों तरीक़ों की अपनी हानियाँ हैं। अगर व्यक्ति अवसरों को आने की अनुमति दे तो कामुक-गति जारी रहती है—अगर वह उन्हें दबाये तो वह गति कल्पनाओं में चली जाती है। अगर वे केवल कल्पनाएँ हों तो कम हानि होती है, क्योंकि अन्ततः कल्पनाओं से पल्ला झाड़ा जा सकता है, लेकिन अगर वे कल्पनाएँ किसी भौतिक क्रिया की तरफ़ झपटें तो कोई फ़ायदा नहीं।

क्या मेरा अपने दोस्त को यह लिखना बेहतर होगा कि यहाँ रहने की जगह पाना, मेरे साथ बातचीत करना और मेरे साथ समय बिताना इत्यादि मुश्किल होगा, जिसकी वह आशा कर रहा है? साथ ही यह भी कि अगर वह साधना नहीं करना चाहता तो यहाँ आना व्यर्थ है। वैसे मुझे यह नहीं मालूम कि क्या उसने मुझे भी चिट्ठी लिखी है, लेकिन फिर भी, अम्बु और मेरे जैसे संवेदनशील लोगों की अवचेतना तथा स्मृतियों को भड़काने के अपने अचेतन 'मिशन' को ढोने से तो वह बच जायेगा।

मेरे ख़याल से बहुत समय से तुम्हारे लिए उसकी कोई चिट्ठी नहीं आयी। लेकिन निश्चय ही, उसका नहीं आना ही बेहतर होगा। यह व्यर्थ ही उन चीज़ों को दोबारा उकसाना होगा जो बन्द हो गयी हैं और एक बार भड़क उठने पर फिर से उनसे पीछा छुड़ाने में कष्ट भोगना पड़ेगा।
३० मई १९३५

मुझे मालूम नहीं कि कामुक-भावना पुराणी से आती है या अचेतन रूप से वह अपना प्राणिक वातावरण फेंकता है और वह मेरे अन्दर कामुक-दबाव के रूप में अनूदित हो जाती है। यह ऐसा बिन्दु है जिस पर कोई भी चीज़ दबाव डाल कर प्रभाव पैदा कर सकती है; और जगहों, मन या प्राण में, उसे स्वीकारा नहीं जायेगा। दूसरी ओर, यह मानना भी बड़ा मुश्किल है कि उसने सेक्स पर विजय पा ली है, क्योंकि वह इधर-उधर कुछ सम्पर्क पाने के लिए ललचता रहता है, हालाँकि वह अपनी ठसक हमेशा बनाये रखता है। शायद वह उसके अन्दर संवेदन के रूप में न हो, लेकिन हो सकता है कि किसी सूक्ष्म रूप में हो। निस्सन्देह, उसने भौतिक रूप में इसे खुल खेला न हो।

मेरे ख़याल से पुराणी की कामुक-प्रवृत्ति के बारे में तुम्हारी व्याख्या सही है।

मेरा मतलब था कि काम-वासना पुराणी की दबाव डालने वाली कठिनाइयों में से एक न

थी, केवल प्रारम्भिक चरण में रही होगी जिसे उसने बलात् निकाल बाहर कर दिया—अगर वह चाहे तो युद्ध कर सकता और उस पर शासन कर सकता है। इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि उसके अन्दर प्राणिक विनिमय के प्रति कोई क्रियाएँ नहीं होतीं, व्यक्ति को इससे एकदम से पूरी तरह मुक्त होने के लिए बहुत अधिक शुद्ध और पवित्र होना होगा। लेकिन मुझे नहीं लगता कि पुराणी की उस चीज़ में काम-वासना का कोई प्रबल दबाव होता है—हाँ, पहले वह जैसा था अगर अब वह वैसा नहीं रहा या एक बार जो उसने प्राप्त कर लिया था उसे वह खो बैठा हो तो बात अलग है।

अब मेरे अन्दर एक और बढ़िया कल्पना चल रही है—कि मैं बुद्ध था! मुझे आश्चर्य होता है कि मेरे बिचारे अहंकार को ये कल्पनाएँ और शक्तियाँ कौन देता है कि वह मिनट-भर के लिए इनको स्वीकार कर लेता है। अगर गाँधी या टैगोर या ऐसे समर्थ व्यक्तियों के अन्दर ऐसी कल्पनाएँ आयें तो ठीक है, लेकिन... मैं इतना बेवक़ूफ़ कैसे हो सकता हूँ भला कि इन चीज़ों में बह जाऊँ?

वह उत्स जिनसे ये कल्पनाएँ आती हैं उनका तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं और वे किन्हीं भी तार्किक आपत्तियों की परवाह नहीं करतीं। ये या तो प्राणिक मन से आती हैं, उसी समान उत्स से जिनसे सभी बढ़िया कल्पनाएँ और लम्बी-चौड़ी कहानियाँ निकलती हैं जिन्हें लोग अपने-आपको सुनाते हैं, जिनमें वे स्वयं हीरो होते हैं और बड़े-बड़े कारनामे करते हैं या ये कल्पनाएँ उन छोटी-छोटी सत्ताओं से आती हैं जो भौतिक मन से चिपकी रहती हैं और जो कहीं से भी ऊटपटाँग सुझाव ले लेती हैं और उन्हें मन के सामने बस यह देखने के लिए परोसती हैं कि मन उन्हें स्वीकार करता है या नहीं। अगर व्यक्ति अपने-आपको बारीक़ी से देखे तो कभी वह सबसे ज़्यादा अजीबोग़रीब, अप्रत्याशित, बेसिर पैर की ऊलजलूल बातों को अपने मन से गुज़रते हुए तो कभी मन के अन्दर झाँकते हुए पायेगा। ज़्यादातर व्यक्ति इन चीज़ों पर बस हँस देता या उन पर ध्यान तक नहीं देता और चीज़ असंगत विचार के उसी जगत् में वापस लौट जाती है जहाँ से वह आयी थी।

३१ मई १९३५

हमेशा वही समान चीज़ होती है जब काम के समय पुरुषोत्तम मुझसे बातें करने आता है। जैसे ही वह बातचीत शुरू करता है, मेरे अन्दर एक डर आ जाता है और कामुक-दबाव के जैसी किसी चीज़ का अनुभव होने लगता है। डर इसलिए कि मुझे पता नहीं कि वह मुझे किस दिशा में ले जायेगा। बहुधा वह बड़े प्यार से मेरे काम के बारे में किसी मुद्दे पर परामर्श देने या चन्दूलाल में कोई खोट निकालने से शुरू करता है, लेकिन अन्त में वह अपनी क्षमताओं अथवा आनन्द या पूना के

कॉलेज के अपने गौरवमय अतीत पर उतर आता है। लेकिन भला मैं उसकी बातों की बनायी इस खिचड़ी से डर क्यों जाता हूँ और मुझे वह अपनी उँगली पर नचा कैसे सकता है? और अपनी इस गुह्य क्षमता के द्वारा, जो उसके अन्दर थी या अब भी मौजूद है, वह सचेतन रूप से या आदतन, अपना व्यक्तित्व सामने ढकेलता और चाहता है कि दूसरों पर उसका असर हो। निस्सन्देह, मैं उसका विरोध कर सकता और उसके प्रभाव से पीछा छुड़ा सकता हूँ, लेकिन अगर मैंने ऐसा किया तो मैं बड़ी कड़ी और कड़वी भाषा इस्तेमाल करूँगा और वह ठीक नहीं रहेगा। इन्हीं सब कारणों से मैं उससे डरता और कतराता हूँ, और शायद यही चीज़ किसी कामुक-भावना में अनूदित हो जाती है।

निस्सन्देह, पुरुषोत्तम उत्तेजित करने वाला हो सकता है। मुझे मालूम नहीं कि जब वह श्रीमाँ की शक्ति के प्रति अधिक नमनीय था तब उसके अन्दर जो गुह्य शक्तियाँ थीं वे सब क्या उसमें अब भी हैं? लेकिन जब उसके अन्दर अहंकार का ज़बरदस्त बोलबाला था, तब उसने कुछ गुह्य शक्तियों को अपने अन्दर थामे रखा था। लेकिन तत्त्वतः मुझे ऐसा लगता है कि चारों तरफ़ के वातावरण की प्रकृति तुम्हारे अन्दर ऐसी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर रही है। किसी भौतिक तरीक़े का इस्तेमाल किये बिना इन्हें दूर फेंकना बहरहाल सम्भव होना चाहिये।

एक सपने में मैंने कुछ लोगों को एक ताबूत में एक भारतीय और गर्दभ-जैसे किसी जानवर को बन्द कर, गाड़ते देखा। वे व्यक्ति हमें रास्ते में मिले। उन्होंने वह ताबूत हमारे पास रखा और जब वे उसे गाड़ने के लिए उठाने जा रहे थे, मृतक हिलने-डुलने लगा और उसने अपनी आँखें खोलीं। मैंने उसके चेहरे पर पानी का छिड़काव किया और वह उठ बैठा। तब हमने उसे ताबूत से बाहर निकाला और वह एक तरफ़ कोने में जाकर बैठ गया। लोग-बाग सड़कों पर चल रहे थे। कुछ समय बाद मैंने उस आदमी से कुछ पूछा; उसने जवाब नहीं दिया। मैंने दोबारा पूछा; उसने फिर कोई जवाब नहीं दिया, बस मुँह लटकाये बैठा रहा। उसकी त्वचा अधिकाधिक सफ़ेद पड़ने लगी और वह कुछ फूल गया। फिर उसने अपने कपड़े उतार कर उन्हें एक-दो पुलिन्दों में तहा लिया, फिर मैंने उसे दूसरे कोने में पाया। कुछ देर बाद मैं उसकी खोज में निकला और जब मैंने उसे दोबारा देख लिया तो मैं उसके पास गया, उसने न मेरी तरफ़ देखा, न मेरी बात का कोई जवाब ही दिया। कुछ समय बाद कुछ लोग आये और गुप्त रूप से इधर-उधर चलने-फिरने लगे। देखने में सुदर्शन थे वे, लेकिन थे सन्दिग्ध। जब मैं कुछ दूर चला गया, उन्होंने उस आदमी को पकड़ा, एक घूँसा मारा, सड़क के दूसरे छोर पर ले गये और उसे आग में झोंक दिया, क्योंकि एक बार वह मर चुका था, उसे मरना ही

पड़ेगा। मैं दौड़ने लगा, दौड़ता ही गया और फिर जग गया। क्या यह मृत्यु का सुझाव है? सवेरे उठने के बाद, मेरी शक्ति एकदम से चू चुकी थी, यहाँ तक कि नहाने के बाद भी मैं तरोताज़ा महसूस नहीं कर रहा था।

निश्चित रूप से यह मृत्यु का सुझाव नहीं था। यह प्राणिक स्तर का सपना है, ऐसे सपने बहुत आया करते हैं। लेकिन आदमी और गर्दभ का साथ होना उसमें किसी प्रतीक को दर्शाता है। सामान्यतया गर्दभ जड़-भौतिक में किसी अन्धकारमय या जड़मति तत्त्व को दर्शाता है। शायद मनुष्य भौतिक चेतना के किसी तत्त्व को दर्शाता है जो इस गर्दभरूपी तत्त्व के साथ सम्बद्ध है और जिसे दबाया और पुनः जीवनदान दिया गया और अन्त में उससे छुटकारा पा लिया गया (आग में डाल दिया गया)।

१ जून १९३५

Lights of yoga का अनुवाद करने के लिए मैंने तुलसी के साथ उसे पढ़ना बन्द कर दिया। पहली बात तो यह कि मुझे उसका अनुवाद करने में कोई रस नहीं है। वह तो तुलसी ही चाहता था ताकि वह डाईबेन और दूसरों को समझाने में उससे मदद पा सके। दूसरी बात यह है कि १०.३० बजे, देर रात तक पढ़ना मेरे लिए सुविधाजनक नहीं था। तीसरा यह कि कभी-कभी हम विषय से भटक जाते हैं और मेरे अन्दर अपने दोषों और साधना में उठ रही बाधाओं का दूसरों के सामने राग अलापने की आदत पड़ गयी है, और उसके बाद मुझे बेचैनी होती है और मैं अपनी मूर्खता पर पछताता हूँ। इसी वजह से मुझे शान्ति के साथ 'सावित्री' पढ़ना भी छोड़ना पड़ा। मैंने देखा कि वह बस मेरे बारे में चीज़ें जानने के लिए उत्सुक हो उठा था। अनुवाद करने के लिए क्या तुलसी की आवश्यकता मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है?

मेरे ख़याल से कोई बाध्यकारी कारण तो है नहीं कि अनुवाद के लिए तुम तुलसी की सहायता लेते ही रहो। निश्चित रूप से, साधना में दूसरों को अपनी साधना के दोषों और कठिनाइयों का दुखड़ा सुनाना उचित नहीं है। इससे कोई सहायता नहीं मिलती और ऐसे बहुत ही कम हैं जो ऐसी व्यक्तिगत बातों को उचित तरीक़े से समझ पायें।

ध्यान के पहले मैं हमेशा की तरह आँखें बन्द किये अपनी जगह पर बैठा था। सुरेन वहाँ आया, मेरी जाँघ पर हाथ रख कर उसने मुझे ज़रा खिसकने को कहा, जो मैंने किया। कुछ क्षण बाद, जहाँ उसने मुझे छुआ था वहाँ उत्तेजक स्पन्दन उठने लगे और जननेन्द्रिय में मैंने वही समान दबाव का अनुभव किया। मेरे अन्दर उस दबाव को एकदम परे हटाने और सुरेन को एक मुक्का जड़ने का प्रबल आवेग उठा। मैंने

पीछे की बातों पर ग़ौर किया कि कहीं इसके पीछे कोई और कारण तो नहीं है : दयानन्द के बारे में राम रेड्डी के साथ हुई संक्षिप्त बातचीत, या जब हम आ रहे थे तब लीला को देखना—मुझे सन्देह होने लगा कि क्या मैंने अनजाने ही लीला पर अपना प्राण फेंक दिया था और प्रत्युत्तर में उसने मुझे घृणा का एक घूँसा मारा। निकम्मे संघर्ष में सारे ध्यान का बंटाढार हो गया, यहाँ तक कि घर लौट आने पर भी, जाँघ पर मैं वही समान संवेदना महसूस कर रहा हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि अगर इसी तरह चलता रहा तो मेरा बेड़ा कहाँ जाकर पार लगेगा! ये बेकार की संवेदनाएँ बहुत ज़्यादा ही सिर उठा रही हैं।

स्पष्ट ही, सुरेन का स्पर्श ही इसके पीछे का कारण रहा होगा, दूसरे कारण नहीं। इस तरह की तीव्र संवेदनशीलता शरीर में अमुक अवस्था में आती है—सबमें नहीं, लेकिन कइयों में—और यह बहुत परेशान करने वाली चीज़ होती है, जब तक कि एक तरह का नियन्त्रण नहीं आ जाता या व्यक्ति के अन्दर उसके लिए प्रतिक्रिया नहीं उठती या जब तक कि कोषाणुओं में एक गहन शान्ति नहीं स्थापित हो जाती। यह शरीर में विकसित होती हुई चेतना का लक्षण है—हालाँकि है अप्रिय।

इतवार था और मैंने सोचा कि काम के समय मैं अपने-आपको पढ़ने की छूट दूँगा। उसके अनुसार, बेंजामिन द्वारा दिये गये फ़्रेंच के अभ्यास मैंने समाप्त कर लिये और शान्ति के साथ भूगोल पढ़ने का समय फ़्रेंच के बाद साढ़े दस का कर दिया। लेकिन प्रणाम के ठीक बाद (माँ ने उस बिन्दु पर ज़रूर दबाव डाला होगा), मैं बेचैनी महसूस करने लगा और मुझे ऐसा लगने लगा कि हालाँकि माँ मुस्कुरा रही थीं, लेकिन थीं एकदम उदासीन, मानों अनिच्छा से उन्होंने अपना हाथ मेरे सिर पर रखा। तब मैंने इसके पीछे का कारण ढूँढ़ना शुरू किया और अचानक मेरे विचार हरेन की तरफ़ मुड़ गये। मैंने सोचा कि मुझे उसके पास यह देखने के लिए जाना ही चाहिये कि क्या उसके अन्दर यहाँ से चले जाने की कुछ हलचल हो रही है, या फिर उसमें एक प्रबल कामुक-गति चल रही है और जिसे वह यहाँ से बहुत दूर जाकर खुल खेलने का अवसर देना चाहता है। बेचैनी ग़ायब हो गयी और मैंने अनुमान लगाया कि माँ चाहती हैं कि मैं वहाँ जाऊँ और प्रणाम के समय उन्हीं ने यह विचार मुझे दिया। बेचैनी का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि प्रेमशंकर प्रणाम कर रहा था और मैंने ग़ौर किया कि इतने कम समय में माँ उसके साथ कितना स्नेहभरा बर्ताव कर रही थीं, जब कि मेरे साथ दो सालों तक उन्होंने ऐसा करने की परवाह तक नहीं की।... शायद इसी बात पर माँ ने दबाव डाला होगा। बहरहाल, प्रेमशंकर को इस तरह देखना, उसके बारे में ऐसे विचार रखना, और

फिर घण्टे-भर तक माँ की "उदासीनता" के बारे में सोच कर बड़बड़ाना—कितना बेवक़ूफ़ीपना है यह मेरा। एकदम गड्डमड्डता में जी रहा हूँ मैं।

मेरे ख़याल से ये सब बस भौतिक मन के वे विचार हैं जो पहले गड्डमड्डता के रूप में ऊपर उठते थे—एक बार फिर अवचेतना के संस्कार उभर रहे हैं, तर्कयुक्त तरीक़े से नहीं, बल्कि सारे-के-सारे एक साथ ऊपर आ रहे हैं।

श्रीमाँ कोई दबाव नहीं डालतीं और न ही उदासीन बने रहने की उनकी कोई मंशा थी, और न उन्होंने बेमन से तुम्हें आशीर्वाद दिया था। काम के समय वे तुम्हारे पढ़ने की बात नहीं सोच रही थीं : और फिर, यह उन्होंने तुम्हारी स्वतन्त्र इच्छा पर छोड़ दिया है। हो सकता है कि प्रेमशंकर की प्राणिक बाधाओं की वजह से उन्होंने उस पर कुछ विशेष *ध्यान* दिया हो, लेकिन दूसरों पर भी तो वे हमेशा बहुत कृपालु होती हैं। अगर हरेन के बारे में कोई विचार उठा तो वह एकदम पृष्ठभूमि में होगा, क्योंकि जिन चीज़ों पर तात्कालिक ध्यान नहीं दिया गया हो वे पीछे बनी रहती हैं।

हरेन का यहाँ से चले जाने का कोई इरादा नहीं है। उसने यह घर इसलिए लिया क्योंकि उसके घर पर मरम्मत का काम चलने वाला है और 'Budi house' उपलब्ध नहीं था। वह अपने में ही रहना चाहता है (पहले तो उसने शहर से दूर—आर्यनकुप्पम्—में रहने का विचार किया था)। मेरे विचार से सेक्स में रमने की जगह वह इन सब चीज़ों से जल्दी-से-जल्दी पिण्ड छुड़ाने में ख़ुश होगा।

२ जून १९३५

बेंजामिन की कक्षा में जाने से पहले मैं कभी-कभी बेचैनी महसूस करता हूँ। मुझे लगता है कि अब मैं उसकी कक्षा छोड़ दूँ, क्योंकि मैं उससे जो कुछ सीख सकता था, मैंने सीख लिया। लेकिन बाद में मैं सोचता हूँ कि यह बस हफ़्ते में दो दिन है, और न वह ज़्यादा काम ही देता है, और वैसे भी मैं घर पर कहीं ज़्यादा काम करता हूँ। फिर भी कोई चीज़ मुझे बेचैन कर देती है। मुझे पता नहीं कि क्या मैं अपने-आपको केवल Entretiens *—श्रीमाँ के वार्तालाप—पढ़ने में ही सीमित रखना चाहता हूँ या फिर लोगों के साथ* कम-से-कम *सम्पर्क रखना चाहता हूँ (जो मेरे अन्दर यह विचार लाता है कि कक्षा आन्तरिक प्रगति को रोक रही है), या यह कि श्रीमाँ की यह इच्छा है कि मैं वहाँ जाना बन्द कर दूँ।*

मेरा विचार है कि तुम अपने-आप ही पढ़ सकते हो, तुम्हारे लिए बेंजामिन की कक्षा करने की अधिक उपयोगिता मुझे नज़र नहीं आती। मुझे नहीं लगता कि दूसरों के साथ बिना किसी लगाव के सम्पर्क साधना तुम्हारी प्रगति में बाधक बन सकता है—हाँ, अगर तुम बाधक मानो

तो दूसरी बात है; क्योंकि हमेशा ऐसे काल आ सकते हैं जब व्यक्ति की इच्छा होती है कि वह कम-से-कम सम्पर्क रखे और जितना सम्भव हो, अपने अन्दर का जीवन जिये।

सारी सुबह, बस नाम के वास्ते मैं यहाँ था, मेरे सारे विचार, भाव, सब कुछ मेरे पुराने घर, सूरत चले गये थे। मैं वहाँ रहने के बारे में कल्पनाएँ कर रहा था, और यह कि क्या यह सम्भव होगा, अगर सम्भव हुआ तो मुझे कौन-कौन सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। मुझे आश्चर्य होता है कि इतनी चीज़ें छोड़ने के बाद भी —अपने लिए आयी चिट्ठियों को न लेना, न पढ़ना, न अख़बार और न ही उपन्यास इत्यादि पढ़ना—मेरे अन्दर एकदम से कोई बदलाव नहीं आया। इसके विपरीत, जिन्होंने इन चीज़ों को नहीं छोड़ा है, वे मेरी अपेक्षा कहीं अधिक स्थिर अवस्था में हैं और उनके मन में यहाँ से चले जाने की बात शायद ही कभी उठती हो। मुझे लग रहा है कि मैं हर एक चीज़ को नीचे दबा कर रखने का तरीक़ा अपना रहा हूँ। लेकिन मुश्किल अब यह है कि अगर मैं यह सब पढ़ना भी चाहूँ और स्वयं को छलने वाला महामूर्ख बने रहने की जगह, सामान्य व्यक्ति का जीवन जीना चाहूँ, तो अब मैं वैसा भी नहीं कर सकता—कैसी चिड़चिड़ा बना देने वाली मेरी हालत हो गयी है और ऊपर से कितनी दयनीय और कष्टों से भरी हुई!

मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम्हारे अन्दर के विभिन्न भाग आपस में झगड़ रहे हैं और वह हिस्सा जो सूरत का एक सामान्य नागरिक बनना चाहता या सोचता है कि वह है, उस दूसरे भाग पर हावी होना चाहता है जो फ़िलहाल डूबा हुआ है, लेकिन जो अपनी ही लीक पर चलने को उतारू है।

३ जून १९३५

आज प्रणाम के बाद मेरे अन्दर कामुक-कल्पनाएँ आने लगीं। प्रणाम के ठीक पहले मैं शान्ति को एक गिरगिट दिखा रहा था जो अण्डे देने के बाद गढ़े को मिट्टी से भर रही थी कि सरस्वती ने मुझे किसी अनुवाद के बारे में पूछा। मैंने उससे पूछा कि उसने शान्ति से अनुवाद क्यों नहीं लिया, और यह कहते हुए अपनी बात ख़तम की कि चम्पा के पास अनुवाद होगा और वह उससे ले सकती है। प्रणाम के बाद यह बातचीत मेरे अन्दर फिर सिर उठाने लगी और मैं कल्पना में डूब गया। मैंने सोचा कि मैं उसे अपने कमरे में बुलाऊँ और कुछ हद तक मैं उसके साथ खेलने की कल्पना करने लग गया। फिर यही समान बात चम्पा के साथ हुई और यह चक्कर कई घण्टों तक चलता रहा। लेकिन जब वह वास्तव में मुझसे मिली तो मैं वह सब नहीं कर सका, मैं उसके सामने कोई प्रस्ताव नहीं रख पाया, हालाँकि

उसके लिए मेरे पास पूरा-पूरा अवसर था। वह कल्पना बनी रही और बाद में यह बाहर जाकर कई सारी नगर-वधुओं के साथ खुल खेल कर मज़ा लूटने के विचार में बदल गयी। लेकिन, सिद्धान्त में स्वीकार कर लेने के बावजूद, यहाँ से चले जाने का विचार-मात्र मेरे लिए असम्भव हो गया है। यह तो ऐसा हो रहा है जैसा शान्ति ने एक बार कहा था, "सब कुछ बेतुका है; व्यक्ति न यहाँ से जाकर सुख भोग सकता है, न यहाँ शान्त रह कर पवित्र ही रह सकता है।" दारा ने भी मुझसे कहा था, "श्रीमाँ एक चीज़ देती हैं और दूसरी को रोक रखती हैं, उसे रोके रखती और बेचैन बना देती हैं, फिर कुछ और ही दे देती हैं।" यह सब प्रणाम के बाद हुआ।

दारा का अवलोकन इस बात को लागू करता है कि श्रीमाँ अपने सुख के लिए जान-बूझकर कष्ट पहुँचाती हैं और साधकों के अन्दर अशुभ चीज़ें डाल देती हैं। तब क्या वह सोचता है कि वे 'विरोधी शक्ति' हैं और 'प्रकाश' नहीं बल्कि 'अन्धकार' का साथ देने के लिए खड़ी हैं? क्या इस बात पर जौ-भर भी विश्वास किया जा सकता है कि माँ ही शान्ति को शान्त और शुद्ध बने रहने से रोकती हैं या वे ही उसे अशान्ति और अशुद्धि देती हैं या प्रणाम के समय लोगों पर कामुक-आवेग या कामुक-कल्पनाएँ उँडेलती हैं? इस तरह के विचार का कोई तार्किक तुक नहीं है।

क्रिया में सेक्स बन्द कर देने पर भी अगर तुम कल्पना में उसके घोड़े दौड़ाते रहो तो स्वाभाविक है कि उसमें से बाहर निकलने में तुम कठिनाई का सामना करोगे। क्रिया में कुछ, कल्पना में कुछ और, यह बेमेल आवेग पर नहीं लागू हो सकता।

४ जून १९३५ **श्रीअरविन्द**